वैष्णवधर्म

परशुराम चतुर्वेदी



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास



वैष्णवधर्म

वैष्णवधर्म

परशुराम चतुर्वेदी



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

द्वितीय संस्करण, मूल्य ३॥)

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली
मुद्रक--रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग।

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक मेरे उस एक लेख का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है जो 'वैष्णवधर्म वा संप्रदाय का क्रमिक विकास' शीर्षक से 'हिंदुस्तानी' पत्रिका के जनवरी १९३७ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उसके द्वारा मैंने वैष्णवधर्म का एक संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की थी और इस बार उसी में कुछ और भी सामग्री जोड़कर उसे अधिक पूर्ण और व्यवस्थित रूप दे दिया है। वैष्णवधर्म पर लिखे गए साहित्य का कलेवर बड़ा है। परंतु उसे सुचारु रूप से सजाकर एक प्रामाणिक इतिहास लिखने का सफल प्रयास अभीतक नहीं हो पाया है। अंग्रेज़ी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं में आजतक लिखे गए ग्रंथ या तो एकांगी जान पड़ते हैं वा अपूर्ण हैं। उनमें से किसी भी एक के अध्ययन से पूरा संतोष नहीं होता और न उससे अपने अभीष्ट की सिद्धि ही होती है। भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से वैष्णवधर्म के महत्त्व को स्वीकार करनेवालों के लिए यह आवश्यक है कि वे इसकी रूपरेखा से पूर्ण परिचित हो जायँ तथा उसके अनक शताब्दियों में क्रमशः विकसित होते गए, रूप को पहचान कर यह भी जान लें कि इसके समय-समय पर भारतीय समाज से प्रभावित होने और उसे प्रभावित भी करने का वास्तविक रहस्य क्या है।

हिंदी भाषा में मुझे आजतक ऐसी एक भी पुस्तक देखने को नहीं मिली जो उक्त विषय की पूरी चर्चा एक साथ क्रमबद्ध रूप में करती हो और जिससे उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति की ओर कोई संकेत मिलता हो। हिंदी-ाहित्य के ऊपर वैष्णवधर्म तथा महायान, शैव, शाक्त, नाथ एवं सूफ़ी संप्रदायों का न्यूनाधिक प्रभाव भी स्पष्ट है, किंतु इस विचार से भी

अभीतक इस विषय के किसी ग्रंथ की रचना नहीं की जा सकी है। प्रस्तुत पुस्तक प्रधानतः ऐसी ही कमी को दूर करने के उद्देश्य से किया गया एक प्रयोगामत्क प्रयास है। इसमें वैष्णवधर्म के भिन्न-भिन्न विषयों पर पृथक्-पृथक् लिखने की अपेक्षा उन्हें केवल शृंखलाबद्ध कर दिया गया है, जिस कारण उनमें से किसी एक का ब्यौरेवार परिचय नहीं मिल सकेगा और वे वहां अधूरे से भी जान पड़ेंगे। फिर भी इस पुस्तक के सीमित क्षेत्र की दृष्टि से ऐसा करना स्वभावतः आवश्यक हो गया।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे जिन लेखकों की कृतियों से सहायता मिली है उनका मैं परम कृतज्ञ हूं। इस संबंध में मैं उन सज्जनों के प्रति भी आभार प्रदर्शन कर देना चाहता हूं जिनके द्वारा मुझे ऐसे ग्रंथ मिल पाए हैं अथवा जिन्होंने मुझे उपर्युक्त लेख को पुस्तकाकार प्रदान करने के लिए प्रेरित किया है। इनमें मेरे मित्र श्री रामचंद्र टंडन का नाम विशेषरूप में उल्लेखनीय है। आवरण-चित्र डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के सौजन्य से प्राप्त हुआ है जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूं। इसी प्रकार गुजराती तथा अंग्रेज़ी में प्रकाशित सामग्री को प्रस्तुत करने के लिए श्री जगदीशप्रसाद गुप्त एवं श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

परशुराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

चित्र-सूची

१. भक्ति का उदय और विष्णु-नारायण

वैष्णवधर्म हिंदू धार्मिक समाज का एक प्रमुख अंग है और किसी न किसी रूप में, वह आज भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक भाग में जीवित और प्रचलित है। सिद्धांतों की दृष्टि से वह विशिष्ट धार्मिक विचारों की एक प्राचीन परंपरा है जिसके अनुगामियों में आजतक सैकड़ों प्रसिद्ध ईश्वर-भक्त, प्रकांड विद्वान एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हो चुके हैं। इसके समर्थन और प्रचार में आजतक एक से एक उत्तम ग्रंथों की रचना होती आई है और एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में इसने समय-समय पर बड़े-बड़े सम्राटों अथवा राजवंशों की छत्रछाया में प्रचुर सहायता भी पाई है। इसके सुगम एवं सर्वजनोपयोगी भक्ति-सिद्धांत और उनका अधिकतर जनता की ही प्रचलित भाषा द्वारा प्रचार किया जाना, तथा ऐहलौकिक जीवन के अंतर्गत परिचित चरित्रों में ही अपने भगवान् के आंशिक रूप की भावना जागृत कर, सुंदर आदर्शों की सृष्टि के लिए इसका प्रयत्न करना सर्वथा स्तुत्य है। इस धर्म की एक प्रमुख विशेषता इस बात में भी पाई जाती है कि अपने इष्टदेव की अपार दया एवं प्रसाद का अधिकारी इसने प्राणिमात्र को एक समान माना है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेम, प्रपत्ति आदि सुलभ साधनों द्वारा अग्रसर होने का पूरा अवसर दिया है, जिससे इसके मूल सिद्धांतों की व्यापकता और उनमें निहित उदारता का भी परिचय मिलता है। परंतु, इन बातों के होते हुए भी, इस धर्म का कोई शृंखलाबद्ध इतिहास आजतक नहीं लिखा जा सका और इसके प्रारंभिक विकास की रूपरेखा कतिपय फुटकर प्रसंगों तथा अवतरणों के ही आधार पर अभी तक निर्मित होती आई है।

वैदिक-कालीन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि जिस भक्ति-मार्ग के अचल शिलाधार पर इस धर्म की मूलभित्ति खड़ी है उसका अस्तित्व

कम से कम संहिता-भाग की रचना के समय तक नहीं था। वह काल, वास्तव में, कर्मकांड का युग था जब कि आर्य-लोग प्रायः प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु वा घटना में किसी न किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा में यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते रहते थे। वे प्रार्थना वा विनय भी अपने दैनिक जीवन को आनंद के साथ व्यतीत करने की इच्छा से ही किया करते थे। उनका प्रधान उद्देश्य ऐहिक सुखों की प्राप्ति तक ही सीमित था और उनका ध्यान अंतःकरण की साधनाओं की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ही ओर अधिक आकृष्ट रहा करता था। उस समय जितना महत्त्व वे मंत्रों के शुद्ध उच्चारण एवं विधियों के निर्वाह को देते थे उतनी चिंता अपने हृदय की शुद्धि अथवा मनोविकारों के परिष्कार की नहीं रखते थे। हां, इतना अवश्य था कि उन्हें अपने उक्त कृत्यों के शुभ परिणाम वा सफलता में दृढ़ विश्वास भी रहा करता था और इस दृष्टि से, यदि हम चाहें तो, यह भी कह सकते हैं कि उनके कर्मकांड भी मूलतः उनकी श्रद्धा द्वारा ही प्रभावित हुआ करते थे। कहा भी गया है "बिना श्रद्धा के यज्ञ का कोई भी अर्थ नहीं। श्रद्धा ही वास्तव में यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में कुछ भी अंतर नहीं है।"[१] श्रद्धाहीन यजमान के सभी अनुष्ठान व्यर्थ और सारहीन हो जाते हैं।

इस श्रद्धा से ही आगे चलकर क्रमशः श्रद्धामूलक भक्ति अथवा श्रद्धा-भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे आर्यों का प्रारंभिक बहुदेववाद भी एकदेववाद में परिणत होने लगा। भक्ति की भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा किसी एक की ओर अग्रसर होती है। भक्तिभाव से अनुप्राणित मनोवृत्ति वाले व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है कि वह साधारण विभिन्नताओं की उपेक्षा करता हुआ अपनी दृष्टि को अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करे तथा इतस्ततः बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य स्थापित करता हुआ उन्हें किसी एक रूप में निविष्ट करे और इस प्रकार उसे अपने उच्चतम आदर्श का केंद्र भी बना ले। अतएव, जिन-जिन प्रमुख

---

[१]गोस्वामी : 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० ६

देवों की कल्पना पहले पृथक्-पृथक् रूपों में की जा रही थी वे अब केवल एक के ही विविध रूपों में दीख पड़ने लगे और अंतमें उनके भिन्न-भिन्न नामों तक का प्रयोग उसके ही लिए होने लगा। उदाहरण के लिए, अब इस प्रकार कहा जाने लगा, "हे अग्निदेव, तुम्हीं वरुण हो तुम्हीं मित्र हो तथा तुम्हीं इंद्र भी हो और तुम्हीं अर्यमा होकर सदा स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो"[1] इत्यादि और कभी-कभी तो यों भी कह दिया गया कि "विद्वान् लोग उसी (सत्) को इंद्र, मित्र, वरुण वा अग्नि के नाम से पुकारते हैं और वही विशाल पंखोंवाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक (पदार्थ) का वर्णन वे अनेक प्रकार से करते हैं, इसलिए वही एकमात्र सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि (संसृति एवं परिवर्तन का मूल कारण होने से) यम तथा (अखिल विश्व का आधारभूत होने से) मातरि वान् भी कहलाता है।"[2] इस दूसरे प्रकार की विचारधारा के अनुसार अखिल विश्व की मौलिक एकता भी प्रतिपादित हुई और वह सत्ता क्रमशः परमात्मतत्त्व हो गई।

अनुमान किया गया है कि ऐसे ही किसी समय के लगभग आर्यों की अनेक परिषदें वा सभाएं भी हुआ करती थीं जिनमें, अनुभव-वृद्धि अथवा मतभेद के कारण उठने वाले विविध प्रश्नों पर वे लोग विचार-विनिमय किया करते थे। ऐसे अवसरों पर किए गए दार्शनिक विवेचन एवं तर्क-वितर्क का ही यह परिणाम था कि, आगे चलकर, वेदों के क्रमशः 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' एवं 'उपनिषद्' नामक विभिन्न भागों की रचना हुई और वैदिकधर्म के एक सुव्यवस्थित साहित्य का सूत्रपात हुआ। इन रचनाओं के आधार पर क्रमशः वैदिक कृत्यों की विधि-परंपरा स्थिर की जाने लगी, मूल दार्शनिक तत्त्वों का अनुसंधान आरंभ हुआ तथा गूढ़ रहस्यों का स्पष्टीकरण

---

[1] ऋग्वेद, ५।३।१-२

[2] इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
ऋग्वेद १।१६४।४३

होन लगा। उपर्युक्त एकदेव अथवा परमात्मतत्त्व के ही समान जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का भी उदय लगभग इसी काल में हुआ। जीवात्मा के कर्म एवं जन्मांतर की कल्पना के आधार पर आर्यों के हृदय में इस बात की भी उत्कंठा जगी कि कर्मबंधन के अनवरत चक्कर से उसे उन्मुक्त करने के लिए अधिक से अधिक महत्त्वपूर्ण साधन काम में लाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सांसारिक कर्मजाल से पृथक् रहकर परमात्मचिंतन में संलग्न होने की एक ऐसी साधना आरंभ की जिसके अभ्यास-क्रम की दीर्घव्यापिनी क्रिया तप वा तपस्या के रूप में परिणत हुई। निरंतर ध्यान द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के सान्निध्य का उत्तरोत्तर बढ़ता जाना सिद्ध होता है। अतएव दूसरे शब्दों में इसे 'वैदिक उपासना' वा 'ध्यानयोग' भी कह सकते हैं और भक्ति-भावना की दृष्टि से यदि इस पद्धति पर विचार किया जाय तो यह भी कहेंगे कि वैदिक उपासना, वास्तव में, श्रद्धा-भक्ति का ही एक अन्य प्रकार से विकसित रूप थी।

जान पड़ता है कि उपर्युक्त समय तक वैष्णवधर्म के कदाचित् किसी भी अंग की रचना नहीं हो पाई थी और स्वयं 'भक्ति' शब्द भी उस काल में, श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेममात्र के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ करता था।[1] भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव, आर्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में पीछे अधिक गंभीरता आने पर हुआ और तभी वह प्रारंभिक श्रद्धा वा उपासना से विकसित होती हुई क्रमशः उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य वा मूलतत्त्व में भाग लेना (भज् = भागलेना, बाँटना आदि) व्यक्त करनेवाले अधिक व्यापक भाव में परिणत हुई।[2] इसी प्रकार उस उपास्यदेव के व्यक्तित्त्व की कल्पना भी बहुत काल के अनंतर ही की जा सकी। संहिताकाल में विष्णु सर्वप्रथम एक साधारण देवता के रूप में ही दीख पड़ते हैं। 'ऋग्वेद' के कई स्थलों पर वे एक आदित्य मात्र

---

[1]भांडारकर : 'वैष्णविज्म शैविज्म ऍंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४१

[2]कीथ : 'कल्याण-कल्पतरु' (गोरखपुर, अगस्त १९३६), पृ० ५५४

समझे जाते हैं और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देने के कारण आर्य-लोग उन्हें महत्त्व देते तथा उनका यशोगान करते जान पड़ते हैं। उनकी महत्ता बड़े-बड़े डगों द्वारा आकाशमंडल वा सारे ब्रह्मांड को माप देने पर ही निर्भर है। जैसे, "अविनश्वर गोपा विष्णु ने केवल तीन पगों द्वारा ही नाँघ दिया।"[1] तथा "विष्णु ने तीन पग किए और इस (ब्रह्मांड) को नाँघ गए।"[2] इन तीन पगों वा पदों में से केवल पहले "दो अर्थात् पृथ्वी और अंतरिक्ष को ही मनुष्य देख वा प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे तक कोई भी नहीं पहुँच पाता। वह चिड़ियों की उड़ान से भी ऊपर है।"[3] "तृतीय पद विष्णु का परमपद है उसे विद्वज्जन आकाश की ओर सदा ऊँची दृष्टि लगाकर देखा करते हैं।[4]" "वहां विष्णु के उस विशाल परम-पद में मधुर आनंदरस का स्रोत विद्यमान है।"[5] इसी प्रकार विष्णु का नाम कहीं-कहीं 'ऋतस्य गर्भम्' आदि के प्रसंगों में 'यज्ञ के बीजरूप देवता' अथवा, 'ब्राह्मणों' की रचना के समय तक 'यज्ञोह वै विष्णुः' आदि द्वारा स्वयं यज्ञ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और वे यज्ञों की सफलता में बहुधा सहायक भी समझे गए हैं।

परंतु उक्त दोनों प्रकार के उदाहरणों से अधिक महत्त्वपूर्ण वे प्रसंग समझे जाने चाहिए जहां पर विष्णु को इंद्र नामक अन्य प्रसिद्ध देवता का 'योग्य सहायक'[6] माना गया है अथवा जहां-जहां इंद्र के साथ ही

---

[1]त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। ऋग्वेद, १।२२।१८

[2]इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋग्वेद, १।२२।१७

[3]द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशो भिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।

तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः। वही, १।१५५।५

[4]तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। वही, १।२२।२०

[5]उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था, विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। वही, १।१५४।५

[6]इन्द्रस्य युज्यः सखा। वही, १।२२।१९

उनकी वीरता वा पराक्रम की प्रशंसा एक-समान रूप से की गई है।[१] कभी-कभी उन्हें इंद्र से बड़ा तक भी स्वीकार कर लिया गया है।[२] 'ब्राह्मणों' की रचना के समय तक तो वे सचमुच सबसे बड़े समझे जाने लगते हैं और स्वयं अग्निदेव की प्रतिष्ठा उनसे कम की जाने लगती है।[३] 'शतपथ-ब्राह्मण'[४] में एक कथा आती है जिसमें वर्णन किया गया मिलता है कि विष्णु ने किस प्रकार यज्ञ के विषय में सभी देवताओं से बढ़कर काम किया और उसके कारण उन्हें उन सभी से श्रेष्ठ भी समझा गया। फिर उसी 'ब्राह्मण' के एक दूसरे स्थल पर[५] विष्णु के पहले वामन-रूप में दिखलाई पड़ने और फिर लेटकर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारे भूमंडल में व्याप्त हो जाने का भी प्रसंग आया है, जिससे इस देवता की महत्ता में चमत्कार एवं अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव भी दीख पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि वैदिक काल में ही देवताओं के राजा इंद्र, विष्णु की प्रतियोगिता में नीचा देखते हुए से जान पड़े और देवेंद्र का पद एक प्रकार से क्रमशः छिना जाता हुआ इंद्र के हाथ से निकलकर विष्णु के पास पहुँच गया। अंत में विष्णु की विजय यहां तक पूरी हो गई कि बहुत कुछ 'इंद्रसूक्त' के ही समान एक 'विष्णुसूक्त' की भी रचना कर दी गई और इंद्र के लिए प्रयुक्त अनेक महत्तासूचक शब्द तक पीछे विष्णु के भी विषय में प्रायः ज्यों के त्यों व्यवहृत होने लगे। उदाहरण के लिए यह भलीभाँति सिद्ध किया जा सकता है कि "विष्णु के हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषण, ऋषभ, वैकुंठ, बृहच्छ्रवस् जैसे नामादि पहले इंद्र के ही लिए प्रयुक्त होते थे अथवा इंद्र-संबंधी किसी वस्तु को सूचित करते थे और वे धीरे-धीरे विष्णु के कई नामों एवं उपाधियों के आधार बन गए।"[६] इतना ही नहीं,

---

[१]ऋग्वेद, ६।६९ [२]वही, ७।९९

[३]अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः। ऐतरेयब्राह्मण, १।१

[४]शतपथब्राह्मण, १४।१।१ [५]वही, १।२।५

[६]गोस्वामी : 'भ० क०', पृ० १०१-२

परमात्मदेव के पद पर पहुँचते-पहुँचते विष्णु को कई अन्य देवताओं से भी अनेक प्रतिष्ठासूचक शब्द मिले जिनमें 'चक्रपाणि'[1] तथा 'कृष्ण'[2] जैसे शब्द वैदिक देवता सवितृ वाले वर्णनों से किसी न किसी प्रकार लिए गए कहे जा सकते हैं ।

वैष्णवधर्म के उपास्यदेव का एक दूसरा नाम 'नारायण' है जो वैदिक साहित्य के अंतर्गत अनेक स्थलों पर आया है । 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर इस प्रकार कहा गया है—"आकाश, पृथ्वी और देवताओं के भी पहले वह गर्भांडरूपी वस्तु क्या थी जो सर्वप्रथम जल पर ठहरी थी और जिसमें सभी देवताओं का भी अस्तित्व था ? जल के ऊपर वही गर्भांड ठहरा हुआ था जिसमें सभी देवता वर्तमान थे और जो सभी कुछ का आधार-स्वरूप है । वह विचित्र वस्तु अजन्मा की नाभि पर ठहरी हुई थी जिसके भीतर सभी विद्यमान थे ।"[3] जिससे पता चलता है कि सबसे प्रथम जल का अस्तित्व माना गया है जिस पर ब्रह्मांड का ठहरना बतलाया गया है । यह ब्रह्मांड ही कदाचित् वह वस्तु है जिसे आगे चलकर जगत्स्रष्टा अथवा ब्रह्मदेव की पदवी दी गई और वह अजन्मा जिसकी नाभि पर वह गर्भांड ठहरा था वही 'नारायण' है । इस ब्रह्मांड में सभी देवताओं का वर्तमान रहना कहा गया है, अतएव 'नर' से अभिप्राय यहां पर उन सभी देवताओं अथवा मानवों से भी है जिनके 'अयन' वा अंतिम लक्ष 'नारायण' हैं और वे ही उनके आधार-स्वरूप भी हैं । इस 'नारायण' शब्द की वैदिक देवतावाची 'विष्णु'

---

[1]अवर्तयत्सूर्यो न चक्रम् । ऋग्वेद, २।११।२०

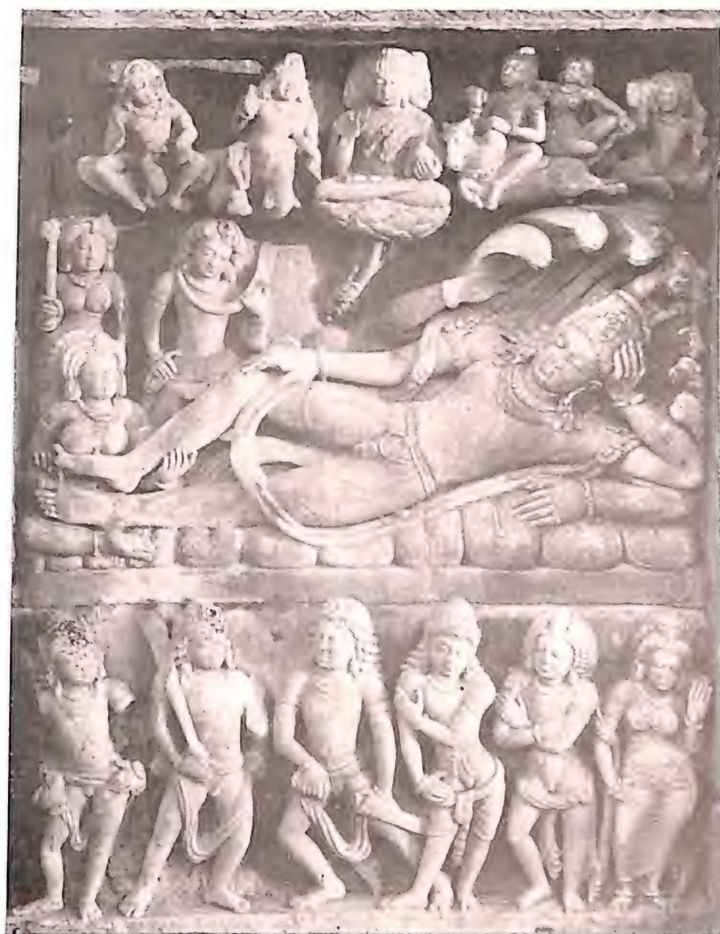
[2]आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः । वही, १।३५।२ तथा सविता.......
कृष्णेन रजसा द्यामृणोति । वही, १।३५।९

[3]परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
केस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥५॥
तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥६॥
वही, १०।८२।५-६

शब्द से यह विशेषता है कि इस नाम से पुकारे जानेवाले देवता एक प्रकार से सृष्टि-विषयक भावना का भी केंद्र बन जाते हैं।[1] 'शतपथब्राह्मण' में एक स्थल पर[2] यह भी कहा गया मिलता है कि "एक बार पुरुष नारायण ने यज्ञस्थान पर स्वयं ठहर कर वसुओं,रुद्रों और आदित्यों को अन्यत्र भेज दिया और यज्ञकर्म को संपादित करके वे सर्वाधिकारी तथा सर्वव्यापी तक हो गए।" यहां पर तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक'[3] के अंतर्गत नारायण की विभूतियों का प्रायः वही वर्णन है जो 'ऋग्वेद' के उपर्युक्त प्रसंग में भी दीख पड़ता है। 'शतपथब्राह्मण' के एक अन्य स्थल पर[4] भी पुरुष नारायण के पांचरात्र सत्र कर, सर्वश्रेष्ठ बन जाने की चर्चा की गई है। नारायण अथवा पुरुषनारायण, इस प्रकार परमदेव वा परमात्मा के ही समान सर्वोच्च हो जाते हैं और 'ऋग्वेद' के 'पुरुषसूक्त'[5] के प्रणेता नारायण ऋषि को यदि अन्य कई अंशों की रचना करनेवालों की ही भाँति, उक्त 'सूक्त' का विषय-पुरुष भी मान लिया जाय तो, कह सकते हैं कि 'पुरुष' और 'नारायण' शब्द वहां, वास्तव में, एक ही देवता के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जैसा कि 'शतपथब्राह्मण' के उपर्युक्त 'पुरुषनारायण' शब्द से भी सिद्ध होता है।[6] तैत्तिरीय आरण्यक[7] में इसी परमात्मस्वरूप नारायण को हरि भी कहा गया है जो शब्द पहले इंद्र के लिए व्यवहृत होता रहा और आगे चलकर 'विष्णु' का एक नाम हो गया।

---

[1]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ४३
[2]शतपथब्राह्मण, १२।३।४
[3]तैत्तिरीय आरण्यक, १०।११
[4]शतपथब्राह्मण, १३।६।१
[5]ऋग्वेद, १०।९
[6]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ४४
[7]तैत्तिरीय आरण्यक, १२।११।१



शेषशायी विष्णु
[गुप्तकालीन : देवगढ़]



२. सात्त्वतधर्म और वासुदेव-कृष्ण

प्रारंभिक वैदिक काल में विष्णु और नारायण नामक देवता भिन्न-भिन्न थे। यद्यपि इन दोनों नामों का प्रयोग उस समय कभी-कभी परमात्मा के लिए भी हो जाता था, फिर भी उनका अंतिम एकीकरण कदाचित् 'तैत्तिरीय आरण्यक' की रचना के समय तक नहीं हो सका।[१] वैदिक काल में, अथवा उसके कुछ पीछे तक भी आर्य लोग इन दोनों देवताओं में से किसी को भी आधुनिक उपास्यदेव के रूप में नहीं समझा करते थे। विष्णु का संबंध अधिकतर यज्ञ के साथ रहा और नारायण सृष्टि का मूलाधार माने जाते रहे। अतएव, उस समय के आर्य लोग या तो उनसे अपने यज्ञादि कर्मों में सहायता प्राप्त करने के लिए वा ऐहिक सुखों की अभिलाषा से बहुधा प्रार्थना किया करते थे या उनके परमात्मा की परम ज्योति का स्वरूप मान लिए जाने पर वे उन्हें उपलब्ध करने के प्रयत्न में कभी तपस्यादि में प्रवृत्त हो जाते थे। उन देवताओं में अभी तक किसी 'दयालु' 'भगवान्' की भावना का अधिष्ठान नहीं हो पाया था। इस प्रकार का भक्तिभाव, सर्वप्रथम, उस समय लक्षित हुआ जब कि वैष्णवधर्म के विकसित रूप सात्त्वत वा भागवतधर्म-संबंधी विचारों का प्रचार होने लगा। सात्त्वत-धर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव-कृष्ण थे और वे ही उसके मूल प्रवर्त्तक भी माने जाते हैं। परंतु 'वासुदेव' और 'कृष्ण' ये दोनों नाम भी 'विष्णु' एवं 'नारायण' की भाँति पहले पृथक्-पृथक् प्रयुक्त होते थे और इनके संयुक्त प्रयोग का अवसर भी, उसी प्रकार, कालांतर में ही उपस्थित हुआ। फिर तो, आगे चलकर, ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय बन गए और इनके द्वारा अभिहित किए जानेवाले "वासुदेव एवं कृष्ण को दो भिन्न-भिन्न मानना

---

[१]रायचौधुरी : 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १८-१९

न्यायतः असंभव हो गया।"[1] अंत में वासुदेव-कृष्ण भी विष्णु-नारायण से मिलकर अभिन्न हो गए और, वैष्णवधर्म इस प्रकार पूर्णतः संघटित हो गया।

वैदिक साहित्य में वासुदेव का नाम किसी 'संहिता', 'ब्राह्मण' वा प्राचीन 'उपनिषद्' के अंतर्गत नहीं आता। यह एक स्थल पर केवल 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवें प्रपाठक में[2] पाया जाता है, जहां पर यह विष्णु के एक नाम की भाँति व्यवहृत हुआ है। डा० राजेंद्रलाल मित्र का कहना है कि इस 'आरण्यक' की रचना बहुत पीछे हुई थी और इसमें भी वह स्थल 'खिलरूप' वा 'परिशिष्टभाग' में आया है।[3] डा० कीथ ने इस आरण्यक का समय ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में निश्चित किया है,[4] जिससे उस काल तक वासुदेव तथा विष्णु एवं नारायण की एकता का संपन्न हो चुकना सिद्ध होता है। 'महाभारत' के कुछ स्थलों पर वासुदेव शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है, "मैं वासुदेव इसलिए कहलाता हूं कि मैं सभी प्राणियों को अपनी माया वा अलौकिक ज्योति द्वारा आच्छादित किए रहता हूं।"[5] तथा "सूर्य के रूप में रहकर मैं अपनी किरणों से सारे विश्व को ढँक लेता हूं और सभी प्राणियों का अधिवास होने के कारण भी मेरा नाम वासुदेव है।"[6] परंतु उसी ग्रंथ में वासुदेव को 'वासुदेव का पुत्र'[7] भी कहा गया है और एक बनावटी वासुदेव की भी कथा आती है जो वास्तव में पौंड्रों का राजा था। पतंजलि और वैष्णवधर्म के पद्मतंत्र ने ऐसे दो वासुदेवों

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० २२

[2]नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

[3]राजेंद्रलाल मित्र : 'तैत्तिरीय आरण्यक', भूमिका, पृ० ८

[4]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ६३

[5]वसनात्सर्वभूतानां वसुत्त्वाद्देवयोनितः। वासुदेवस्ततो वेद्यः। इत्यादि।
महाभारत, ५।७०।३०

[6]छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्। वही, १२।३४१।४१

[7]वही, ३।१४।८

की चर्चा की है जिनमें से एक 'तत्रभवत्' और दूसरा क्षत्रिय है ।[1] उधर 'महाभारत' के ही 'श्रीमद्भगवद्गीता' नामक प्रसिद्ध अंश में श्रीकृष्ण ने कहा है, "मैं वृष्णियों में वासुदेव हूं"[2] जिससे वासुदेव का वृष्णिकुल में उत्पन्न होना भी विदित होता है । इसी प्रकार बौद्धों के 'घट जातक' में वासुदेव को "मथुरा प्रदेश के उत्तरी भाग में रहनेवाले किसी राजवंश की संतति"[3] कहा गया है और उसमें यह भी लिखा मिलता है कि उक्त राजवंश कान्ह द्वीपायन की अवज्ञा करने के कारण नष्ट हो गया । इसी बात का उल्लेख कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी हुआ है जहां वृष्णिकुल के स्थान पर वृष्णियों के किसी संघ की चर्चा की गई है । उसमें कहा गया है, "अपनी इंद्रियों को संयत रूप में न रखने वाला शीघ्र नष्ट हो जाता है । वातापी, हर्ष के मारे फूलकर अगस्त्य ऋषि पर आक्रमण करने के कारण, और वृष्णिसंघ वाले द्वैपायन के विरुद्ध चेष्टा करने से विनष्ट हो गए ।"[4]

'महाभारत' के भीष्मपर्व (६५वें अध्याय) में आता है कि ब्रह्मदेव ने पुरुष परमेश्वर की स्तुति की और उनसे प्रार्थना भी की कि आप चलकर यादववंश की वृद्धि कीजिए और, उन्हें वासुदेव नाम से संबोधित करते हुए, उन्होंने यह भी कहा कि आपने ही संकर्षण के रूप में अवतीर्ण होकर अपने पुत्र प्रद्युम्न को उत्पन्न किया और प्रद्युम्न से विष्णुस्वरूपी अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई जिससे मेरी रचना हुई थी और उसीके अनुसार अब एक बार फिर भी मनुष्य-योनि में जन्म धारण कीजिए। उक्त पर्व के ६६वें अध्याय के आरंभ में, इसके आगे, यह भी कहा गया है कि प्रजापति ने परमेश्वर से विनय की थी कि आप चलकर मानव-योनि में वासुदेव का अवतार धारण कीजिए और परमेश्वर के स्थान

---

[1]'दि एज अव् इंपीरियल यूनिटी', पृ० ४४०

[2]वृष्णीनां वासुदेवोस्मि। श्रीमद्भगवद्गीता, १०।७७

[3]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ४४

[4]शामाशास्त्री : 'दि अर्थशास्त्र अव् कौटिल्य', पृ० १२-१३

पर फिर अध्याय भर में वासुदेव नाम का ही व्यवहार किया गया है। इस पर डा० भांडारकर का अनुमान है कि "वासुदेव भक्ति-संप्रदाय के प्रवर्त्तक का नाम था और उक्त प्रसंग का अभिप्राय यही जान पड़ता है कि वह अन्य तीनों (अर्थात् संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध) के साथ किसी पहले युग में भी वर्त्तमान रह चुका था।"[1] वासुदेव का किसी विशेष धर्म वा संप्रदाय का उपास्यदेव होना ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के एक सूत्र[2] से भी सिद्ध होता है, जहां पर उक्त संप्रदाय के अनुयायियों को 'वासुदेवक' नाम से निर्दिष्ट किया गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी इसे उसी अर्थ में समझा है और उनके एक अन्य सूत्र[3] पर अपना भाष्य लिखते समय कहा है कि 'वासुदेव' और 'बालदेव' दोनों ही वृष्णि नाम हैं और वे क्रमशः 'वासुदेव' एवं 'वलदेव' शब्दों से बने हैं। बौद्धों के 'निर्देश' नामक एक पालि-ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में वासुदेव तथा वलदेव के सांप्रदायिक अनुयायी वर्त्तमान थे[4] और 'शतपथ-ब्राह्मण' में एक स्थान पर 'वार्ष्णेय' शब्द का व्यवहार हुआ है,[5] जिससे वृष्णिवंश की प्राचीनता का भी अनुमान किया जा सकता है।

'महाभारत' के आदिपर्व में एक स्थल पर आया है कि वासुदेव ने एक बार वृष्णिकुल वालों को संबोधित करते हुए कहा था कि पार्थ अर्थात् अर्जुन सात्त्वतों को लालची नहीं समझते और उसी पर्व में एक अन्य स्थल पर स्वयं वासुदेव को भी 'सात्त्वत' कहा गया है। इस प्रकार 'वार्ष्णेय' एवं 'सात्त्वत', वस्तुतः एक ही जान पड़ते हैं। इस बात के प्रमाण में 'विष्णुपुराण' के चतुर्थ अंश के ग्यारहवें अध्याय के अंत में पराशर द्वारा दिया हुआ यदुकुल का वर्णन[6]

---

[1] भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १३-१४

[2] वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्, ४।३।९८ पर पातंजल महाभाष्य।

[3] ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च, ४।१।११४ पर पातंजल महाभाष्य।

[4] भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ३-४ [5] शतपथब्राह्मण, ३।१।१।४

[6] वृषस्य पुत्रो मधुरंभवत् ॥२६॥ तस्यापि वृष्णिप्रमुखं पुत्रशतमासीत् ॥२७॥ यतो वृष्णिसंज्ञा येतद् गोत्रमवाप ॥२८॥ यादवश्च यदुनामोपलक्षणा-दिति ॥३०॥ विष्णुपुराण, ४।११

तथा उसी अंश के बारहवें अध्याय के अंत में आया हुआ यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का विवरण[1] भी तुलना के लिए दिए जा सकते हैं। पहले प्रसंग में आया है कि यदु के पुत्र सहस्रजित् की वंशावली में मधु के पुत्र वृष्णि हुए जिनसे वृष्णिवंश की संज्ञा हुई और यदु के नामानुसार इसी वंश के लोग यादव भी कहलाए। फिर दूसरे प्रसंग में यदु के क्रोष्टुकुल की चर्चा है और कहा गया है कि इस कुल में 'अंश' नामक एक पुरुष हुए थे, जिनके पुत्र का नाम 'सत्त्वत' था और सत्त्वत से ही लोग 'सात्त्वत' कहे गए। इसी प्रकार 'श्रीमद्भागवत' से भी पता चलता है[2] कि सात्त्वत लोग परमेश्वर को 'भगवान् वासुदेव' कहा करते थे तथा उनकी पूजा का ढंग भी एक विशेष प्रकार का था और वासुदेव को फिर उसी पुराण में 'सात्त्वतर्षभ' भी कहा गया है।[3] डा० भांडारकर ने कुछ ऐसे ही अन्य प्रमाणों के आधार पर भी यह अनुमान किया है कि 'सात्त्वत' शब्द वृष्णिवंशीय के एक दूसरे नाम की भाँति ही व्यवहृत होता था और उसीमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध हुए थे तथा सात्त्वतों का एक पृथक् संप्रदाय भी था जिसके अनुसार वे वासुदेव की पूजा, उसे परमात्मा समझ कर, किया करते थे।[4] उनकी 'सात्त्वत-विधि' को 'शांतिपर्व' के अंतर्गत सूर्यद्वारा प्रवर्त्तित कहा गया है, जिसका समर्थन 'गीता' (१६-३) से भी हो जाता है।[5] भीष्मपर्व के ६६वें अध्याय के अंत में भीष्म ने भी कहा है, "अनंत और दयालु ईश्वर को हमें वासुदेव के ही रूप में जानना चाहिए तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी को चाहिए कि उसकी पूजा भक्तिभाव के साथ करें।" 'शतपथब्राह्मण'[6] में 'सात्त्वत' शब्द भी 'वार्ष्णेय' की ही भाँति एक अन्य प्रसंग में आया है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो दोनों एक समान ही प्राचीन कहे जा सकते हैं।

---

[1] ततश्चांशुस्वस्माच्च सत्त्वत:।।४३।। सत्त्यतादेते सात्त्वताः।।४४।। विष्णुपुराण, ८४।१२

[2] श्रीमद्भागवत, ९।९।४९ [3] वही, ११।२७।५ [4] भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १२

[5] 'दि एज अव् इंपीरियल यूनिटी', पृ० ४३३ [6] १३।५।४।२१

'वासुदेव-कृष्ण' शब्द का दूसरा अंश अर्थात् 'कृष्ण' शब्द 'ऋग्वेद' (मंडल ८) के एक 'सूक्त' के ऋषि व रचयिता के रूप में आया है और इसके तीसरे एवं चौथे मंत्रों में वे ऋषि अपने को स्वयं भी कृष्ण कहते हुए जान पड़ते हैं।[1] 'अनुक्रमणी' के रचयिता ने उसी कृष्ण को आंगिरसगोत्रोत्पन्न भी बतलाया है और 'कौशीतकीब्राह्मण' में भी कदाचित् उसी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है।[2] इधर 'छांदोग्य उपनिषद्' के अनुसार देवकी-पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे[3] और उस 'कौशीतकीब्राह्मण' के प्रसंगानुसार वे ऋषि सूर्य के उपासक भी थे।[4] परंतु क्या उपर्युक्त वैदिक सूक्त के रचयिता कृष्ण आंगिरस और ये घोर आंगिरस के शिष्य कृष्ण एक ही व्यक्ति थे? डा० भांडारकर का कहना है, "यदि कृष्ण और घोर दोनों ही आंगिरस थे तो इससे यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि कृष्ण के ऋषि होने की परंपरा 'ऋग्वेद' के समय से लेकर 'छांदोग्य उपनिषद्' के रचना-काल तक चली आई और उस समय काष्र्यायिन नाम का कोई गोत्र भी वर्त्तमान था जिसके मूलपुरुष कृष्ण थे। वासुदेव के आराध्यदेव बन जाने पर जब कृष्ण और वासुदेव दोनों मिलकर एक वासुदेव-कृष्ण हो गए तो कालांतर में उन्हें वृष्णिकुल के वंशवृक्ष में भी स्थान मिल गया।"[5] 'वासुदेव' का व्यक्तिवाचक संज्ञा और 'कृष्ण' का गोत्र-नाम होना बौद्धों के 'घट जातक' और 'महा उम्मग्ग जातक' में आए हुए प्रसंगों से भी सिद्ध होता है[6] और पतंजलि के 'महाभाष्य' में आए हुए दो स्थलों[7] की तुलना

---

[1] अयं वा कृष्णो अश्विना हवते वाजिनी वसू। तथा, शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा। ऋग्वेद, ८।८५।३

[2] कौशीतकीब्राह्मण, ३०।६

[3] तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वा। छांदोग्य उपनिषद्, ३।१७।६

[4] कौशीतकीब्राह्मण, ३०।६ [5] भांडारकर : 'वै०, शै०', पृ० १५-१६

[6] वही, पृ० १४-१५

[7] प्रहारा दृश्यंते कंसस्य च कृष्णस्य च, असाधुर्मातुले कृष्णः। तथा, जघान कंसं किल वासुदेवः। 'अ० हि० वै०' पृ० २२ पर उद्धृत।

करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में वासुदेव और कृष्ण को लोग एक ही व्यक्ति के रूप में समझा करते थे।[1]

किंतु फिर भी, प्राचीन वैदिक काल के कृष्ण आंगिरस एवं उपनिषद् काल के देवकीपुत्र के केवल अधूरे आधारों पर ही, द्वापर के अंत में अवतीर्ण होनेवाले वासुदेव-कृष्ण के व्यक्तित्त्व और नामादि का रचा जाना तथा आगे चलकर 'महाभारत' के उसी वासुदेव-कृष्ण के साथ भागवतादि ग्रंथों के गोपाल-कृष्ण का भी एक ही व्यक्ति समझा जाना और इस परंपरा का इतने दीर्घकाल तक अक्षुण्ण रूप में निर्विवाद प्रचलित रहना बड़े आश्चर्य की बात है। इसका समाधान केवल प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के ही आधार पर करना कठिन है। वास्तव में, अनेक प्रसिद्ध एवं धुरंधर विद्वानों द्वारा भागवतधर्म के संबंध में बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जाते रहने पर भी, वासुदेव और कृष्ण के एक होने को कौन कहे, इन दोनों के साथ विष्णु और नारायण तक के एकीकरण के विषय में अभीतक कभी संदेह नहीं उत्पन्न हुआ था। यह प्रश्न ईसा की गत उन्नीसवीं शताब्दी में पहले-पहल उस समय उठा जब कि पाश्चात्य विद्वान्, अथवा उन्हींके समान तर्क और खोज करने वाले कतिपय भारतीय पंडित भी, अनेक बातों की गवेषणापूर्ण आलोचना करने लगे और प्रसंगवश सोचने लगे कि क्या उक्त चारों व्यक्ति आदि से ही एक थे अथवा उनका एकीकरण किसी समय आगे चलकर हुआ। तब से कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व को स्पष्ट करने की चेष्टा निरंतर होती आ रही है और एक विशाल सामग्री के आधार पर उसका विश्लेषण भी अनेक बार हुआ है। किंतु 'कृष्ण की समस्या' अभी तक प्रायः ज्यों की त्यों बनी हुई है और वह लगभग वैसी ही जटिल और विवादग्रस्त कही जा सकती है जैसी पहले थी।[2] अंतर इतना ही है कि इस विषय की बात अब अधिक सावधानी से की जाती है।

---

[1] तुलनीय—'दि एज अव् इंपीरियल यूनिटी', पृ० ४३९

[2] ताड़पत्रीकर : 'दि कृष्ण प्राब्लम'। बी० ओ० आर० ओरियंटल मेनुअल भा० १०, ३-४, पृ० २७०

हां, इस विषय में एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। 'छांदोग्य उपनिषद्' के उपर्युक्त प्रसंग में घोर आंगिरस ने देवकी-पुत्र कृष्ण को कुछ उपदेश दिए हैं और वहां पर जो-जो बातें कही गई हैं वे वासुदेव-कृष्ण की 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कुछ अंशों से मिलती हैं। इस उपनिषद् (तृतीय प्रपाठक) के १६वें खंड के आरंभ में ऋषि ने पुरुष वा मनुष्य को यज्ञ-रूप माना है और आगे चल कर (१७वें खंड में) उसके जीवन-संबंधी विविध कर्मों की समानता यज्ञ की दीक्षा, उपसद, स्तुतशस्त्र, असोष्ट एवं अवभृथ के साथ दिखलाई है। अंत में वे, इस 'पुरुषयज्ञविद्या' को समझाते हुए, देवकी-पुत्र कृष्ण से कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अंतिम समय में इन तीन पदों का उच्चारण करे, अर्थात् "हे परमात्मन्, आप अविनाशी हैं, आप सदा एकरस रहने वाले हैं तथा आप सबके प्राणप्रद एवं अति सूक्ष्म हैं" और, इस संबंध में, वे 'ऋग्वेद' एवं 'यजुर्वेद' के दो आवश्यक मंत्रों का भी उल्लेख करते हैं। तत्पश्चात्, इस उपदेश को श्रवण कर लेने के कारण, कृष्ण की जिज्ञासा शांत हो जाती है और वे अब किसी अन्य प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के भी इच्छुक नहीं दीख पड़ते।[1] इधर 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी हम देखते हैं कि अर्जुन को उपदेश देते समय श्रीकृष्ण ने मनुष्य के यज्ञार्थ किए गए कर्मों को ही अधिक महत्त्व दिया है और वे कहते हैं कि "हे कौंतेय, जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो अथवा दान करते हो तथा तपादि भी करते हो वह सब कुछ मुझे (अर्थात् भगवान् को) समर्पित कर दिया करो।"[2] इसी प्रकार उक्त दोनों ग्रंथों के कई अन्य अंशों की भी तुलना हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं। जैसे—

छांदोग्य उपनिषद्	श्रीमद्भगवद्गीता
१. तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति (३।१७।४)	१. दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। अहिंसा सत्यम् (१६।१-२)

[1] छांदोग्य उपनिषद्, ३।१७।६

[2] यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ श्रीमद्भगवद्गीता, ९।२७

२. सोऽन्तवेलायामेतत्रयं प्रतिपद्येत। अक्षितमस्यच्युत मसि प्राण संशितमसीति (३।१७।६)

२. अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्तवा कलेवरम् (८।५), प्रयाणकाले... यदक्षरं वेदविदो वदन्ति (८।१०-११)

३. उद्वयं तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यम् (३।१७।७ में उद्धृत 'यजुर्वेद')

३. सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (८।९)

इन अवतरणों से पता चलता है कि एक के भाव तथा बहुत-कुछ शब्द तक भी दूसरे के भाव एवं शब्दों के साथ स्पष्ट रूप में मिलते हैं, जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि देवकीपुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु घोर आंगिरस से ग्रहण किए थे उन्हींके अनुसार वासुदेव-कृष्ण ने भी 'गीता' द्वारा अपने मित्र अर्जुन को उपदेश दिया। उपर्युक्त समानता केवल अकस्मात् वा संयोगवश ही नहीं आ गई है। अपितु इस कथन में तथ्य भी अवश्य है कि देवकी-पुत्र और वासुदेव-कृष्ण ब्राह्मण-काल में एक ही रहे होंगे और उस महापुरुष ने, अपने शिष्यरूप में ग्रहण किए हुए सिद्धांतों के ही आधार पर, अपने अर्जुनादि अनुयायी भागवतों को शिक्षा प्रदान की होगी।[1] 'श्रीमद्भगवद्गीता' के इस अंश से कि "अनेक जन्मों के अनंतर यह अनुभव हो जाने से कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है, ज्ञानवान् मुझे पा लेता है"[2]—यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है।

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ५०

[2]बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१९

३. श्रीकृष्ण का एकांतिक धर्म

देवकी-पुत्र कृष्ण और वासुदेव-कृष्ण को एक ही व्यक्ति मान लेने पर भी उनके जीवनकाल एवं जीवनचरित्र-संबंधी ऐतिहासिक बातों का ठीक-ठीक पता लगा पाना लगभग वैसा ही कठिन बना रह जाता है। कारण यह है कि इस विषय की जो कुछ भी सामग्री इस समय उपलब्ध है उसका अधिकांश अनुमान पर ही आश्रित है और उसमें अनेक बातें ऐसी भी दीख पड़ती हैं जिन्हें कोरी कल्पना के आधार पर ही निर्मित कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इसीलिए पहले भक्तिमार्ग को आधुनिक बतलाना आरंभ किया था और वे कृष्ण के व्यक्तित्त्व के संबंध में भी प्रायः यही धारणा रखते थे। वे इस बात के लिए बहुधा प्रमाण भी दिया करते थे कि कृष्ण को केवल एक काल्पनिक पुरुष और भक्तिभाव को यहां ईसाईधर्म द्वारा प्रभावित होनेवाली भावना-मात्र क्यों कहना चाहिए। परंतु फिर भी ऐसे विचारों को निराधार सिद्ध करने तथा, साथ ही, कृष्ण की प्राचीनता दर्शाने के लिए भी हमें कम ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के बेसनगर (ग्वालियर) शिलालेख से ग्रीक राजा ऐंटियाक्लिदस के राजदूत हेलियोडोरा का भागवतधर्मावलंबी होना तथा उसके द्वारा 'देवदेव वासुदेव' के नाम पर गरुड़ध्वज का निर्माण किया जाना सिद्ध होता है, और यह भी स्पष्ट है कि उक्त शिलालेख की बहुत-कुछ बातें घोर आंगिरस के उपदेश एवं 'गीता' के सिद्धांतों से मिलती-जुलती हैं।[१] फिर उसी दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि से, अन्य कई बातों के अतिरिक्त, यह भी पता चलता है कि उनके समय में कोई नाटक खेला जाता था जिसमें कृष्ण द्वारा कंस का वध किया जाना दिखलाया जाता था

---

[१] रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ५९-६०

और उस समय तक यह घटना बहुत प्राचीन हो गई थी, जैसा कि उनके भाष्य के अंतर्गत आए हुए 'चिरहते कंसे' वाक्य से विदित होता है।[1] इसी प्रकार ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य के दर्बार में उपस्थित ग्रीक राजदूत मेगास्थिनिज़ तथा एक एरियन नामक अन्य ग्रीक के लेखों से भी प्रकट होता है कि हेराक्लीज़ को शौरसेनवंश वाले बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा करते थे। उनसे यह भी पता चलता है कि उक्त वंश वालों के 'मेथोरा' एवं 'क्लेइसोवोरा' नामक दो बड़े-बड़े नगर थे और इनके प्रदेश से होकर 'जोवारे' नदी बहा करती थी।[2] डा० भांडारकर ने उक्त नामों में से 'हेराक्लीज़' को हरिकुल वा वासुदेव तथा शौरसेन को 'सात्वत' समझा है और मेथोरा को 'मथुरा', क्लेइसोवोरा को 'कृष्णपुर' और जोवारे को यमुना माना है।[3] ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के वैयाकरण पाणिनि के एक सूत्र से भी विदित होता है कि वासुदेव नाम का व्यक्ति किसी क्षत्रिय वंश का था[4] और यह बात 'महाभारत' के प्राचीन अंशों द्वारा भी प्रमाणित की जा सकती है। अतएव संहिताकाल के वैदिक ऋषि कृष्ण का विचार त्याग देने पर भी देवकी-पुत्र कृष्ण के लिए हमें मैकडानेल के अनुसार ईसा के पूर्व ६०० वें वर्ष से पहले का ही समय निश्चित करना पड़ेगा, क्योंकि 'छांदोग्य उपनिषद्' आदि की रचना ऐसे ही समय में हुई थी।[5] इसी प्रकार जैनधर्म की एक परंपरा के अनुसार कृष्ण उसके २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि वा नेमिनाथ के समकालीन थे और ये नेमिनाथ उसके २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईसा के पूर्व ८१७ वें वर्ष से भी पहले हो चुके थे। अतएव इस दृष्टि से विचार करने पर कृष्ण का समय ईसा के पूर्व नवीं शताब्दी के इधर का नहीं हो सकता।[6] इसके सिवाय इस विषय

---

[1] रायचोधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० २२ तथा २९

[2] वही, पृ० ५५-६   [3] वही, पृ० २३

[4] वही, पृ० २२

[5] मैगडानल : 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर', पृ० २२६

[6] रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ३९

के एक प्रसिद्ध विद्वान् चिंतामणि विनायक वैद्य का भी अनुमान है कि 'महाभारत', 'हरिवंश', मेगास्थिनिज़ के लेख तथा प्रचलित परंपराओं के आधार पर श्रीकृष्ण का जन्मकाल ईसा के पूर्व ३१८५ वें वर्ष तथा मृत्यु-समय ३०७२ वें वर्ष में मानना चाहिए। इस गणना के अनुसार वे यहां तक बतलाते हैं कि श्रीकृष्ण की अवस्था राजसूय-यज्ञ के अवसर पर ७१ वर्ष की थी, 'महाभारत' की लड़ाई के समय वे ८४ वर्ष के थे तथा अंत में ११३ वर्ष की आयु पाकर मरे थे[1] जो, सभी बातों पर विचार कर लेने पर, कुछ असंभव नहीं जान पड़ता।

उपर्युक्त सभी सामग्रियों के आधार पर इतना स्वीकार कर लेना कि वासुदेव-कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे अनुचित नहीं कहा जा सकता। वे मथुरा प्रदेश के यादवकुल में उत्पन्न हुए एक क्षत्रिय महापुरुष थे, उन्हें घोर आंगिरस ऋषि के यहां शिक्षा-दीक्षा मिली थी। उन्होंने कंस को मारा था और महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध में उन्होंने पांडवों की सहायता की थी। इसीके साथ इतना यह भी मान लिया जा सकता है कि अपने गुरु से ग्रहण किए गए विचारों को सिद्धांत का रूप देकर उन्होंने दूसरे लोगों में प्रचार किया और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके अनुयायी सात्त्वतों ने उन्हें अपना उपास्यदेव भगवान् तक स्वीकार किया। इसके सिवाय उनके जीवनकाल से लेकर पीछे तक भी उनके प्रति, भक्ति एवं श्रद्धा प्रदर्शित की जाती रही। अंत में, वे पूर्णब्रह्म परमात्मा तक के स्थानापन्न समझ जाने लगे। 'महाभारत' ग्रंथ के अंतर्गत श्रीकृष्ण दोनों रूपों में (अर्थात् महापुरुष एवं देवतास्वरूप) दिखलाई पड़ते हैं। उसके 'सभापर्व' में हम देखते हैं कि शिशुपाल उन्हें ब्राह्मणों के विद्यमान रहते हुए भी देवत्व-कोटि प्रदान किया जाना एक प्रकार का गर्हित कार्य समझता है और इस बात का वह घोर विरोध करता है तथा भरी सभा में उन्हें बहुत कुछ बुरा-भला तक कह डालता है।[2] भीष्म का कहना था कि श्रीकृष्ण को सबसे अधिक

---

[1]वैद्य : 'एपिक इंडिया', पृ० ४१८-२०

[2]महाभारत, सभापर्व, ४२।६

सम्मानित करने के दो कारणों में से एक यह भी है कि वे वेदों तथा वेदांगों के जानकार हैं और उन्होंने ऋत्विज होकर यज्ञ भी कराया है।[1] फिर 'महाभारत' के ही 'वनपर्व' में दिए गए 'भीष्मस्तवराज' द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त ग्रंथ की समाप्ति होने के पहले से ही, श्रीकृष्ण का एकीकरण नारायण-विष्णु के साथ भलीभाँति हो चुका था।[2] 'महाभारत' की रचना का समय विद्वानों ने ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी (अर्थात् पाणिनि के समय) से भी पहले से लेकर तीसरी शताब्दी (पूर्व) तक मान लिया है[3] और इसीके अनुसार वासुदेव-कृष्ण के प्रति प्रदर्शित प्रतिष्ठा का क्रमिक विकास भी लक्षित होता है। प्रारंभ में श्रीकृष्ण ने अपने विचारों को अपने वर्ग वा कुल के लोगों में ही प्रकट किया था। उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होने पर, भागवतधर्म का प्रचार अन्य समाजों में भी होने लगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, मेगास्थिनिज़ के समय तक श्रीकृष्ण एक प्रभावशाली महापुरुष के ही रूप में थे। उनके मत का प्रचार अभीतक, संभवतः मथुरा प्रदेश में ही हो पाया था। परंतु तक्षशिला के हेलियोदोरा के समय तक (अर्थात् ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में) यह वर्त्तमान ग्वालियर तक फैल गया और उसके अनुयायियों में विदेशी लोग तक सम्मिलित होने लगे। इसी प्रकार ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के ही, राजस्थान में पाए गए, 'घसुंडी शिलालेख' से भी यह विदित होता है कि ईसा के जन्म के पहले से ही इसका प्रचार पश्चिम की ओर होने लगा था और नासिक के निकट पाए गए 'नानाघाट शिलालेख' से प्रकट होता है कि इसका विस्तार दक्षिण भारत की ओर भी होता जा रहा था।[4] इस मत के प्रचार का पता तत्कालीन भारतवर्ष के पूर्वी भागों में नहीं मिलता, इसलिए यह भी अनुमान किया

---

[1]महाभारत, सभापर्व, ३८ वां अध्याय।
[2]वही, वनपर्व, १८९।९३-४ तथा ९९-१००
[3]हॉप्किस : 'दि ग्रेट एपिक अव् इंडिया,' तथा वैद्य : 'एपिक इंडिया'
[4]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ६९-७०

जाता है कि भागवतधर्म उक्त समय तक केवल मथुरा प्रदेश के आसपास तथा कुछ दूर तक उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण दिशा की ही ओर फैल रहा था। पूर्व के लोग तब तक इससे अधिकतर अपरिचित ही थे। इसी कारण, इस ओर मगध प्रदेश में, गौतम बुद्ध एवं महावीर के मतों का प्रचार सुगमता से हुआ।[1]

वासुदेव-कृष्ण वा श्रीकृष्ण ने जिन-जिन बातों का उपदेश दिया अथवा जिन-जिन सिद्धांतों को उनके अनुयायी सात्वतों और भागवतों ने अपनाया था उन सब का सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' में दिया गया है। पता नहीं श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति जो-जो शब्द कहे थे वे ठीक उसी रूप में उक्त ग्रंथ में वर्तमान हैं वा नहीं। किंतु इतना तो निर्विवाद है कि उनके द्वारा प्रकट किए गए भावों का मूलरूप उसमें अवश्य सुरक्षित है और वह रचना उनके मत को माननेवालों के लिए उत्यंत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के देखने से विदित होता है कि जिस समय उक्त उपदेश दिए गए थे उस समय यहां पर दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों की दो प्रमुख धाराएं प्रचलित थीं जिन्हें क्रमशः 'सांख्य' एवं 'योग' नामों से पुकारा जाता था और स्वीकृत पद्धतियों के अनुसार जिन्हें दूसरे शब्दों में 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' भी कहा जाता था।[2] इनमें से सांख्य वा ज्ञानयोग का मुख्य सिद्धांत यह था कि आत्मा नित्य, शुद्ध एवं ज्ञानमय है और विकारों की भावना अथवा कर्मबंधन की अड़चनें उसमें चेष्टामयी प्रकृति के संयोग से ही आ जाया करती है। अतएव यह आवश्यक है कि संसार के सभी बंधनों से अपना चित्त नितांत अलग रखने का अभ्यास डालते हुए उसे अपनी ओर उन्मुख करें जिससे पूर्ण आत्मज्ञान होकर अंत में मुक्ति मिले। इस मार्ग की साधना वैदिक परमात्मोपासना की जगह आत्मोपासना-परक थी और

---

[1]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १२

[2]लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ श्रीमद्भगवद्गीता, ३।३

इसका ज्ञानयोग भी कदाचित् वैदिक ध्यानयोग का ही एक विकसित रूप था। इसके विपरीत 'योग' वा कर्मयोग का सिद्धांत यह था कि आत्मा केवल सत् मात्र एवं सचेष्ट है और ज्ञान का आविर्भाव उसमें प्रकृति के संसर्ग से ही संभव है। व्यक्तिगत चेष्टा द्वारा इच्छादि की श्रृंखला स्वभावतः बढ़ती रहती है जिसका परिणाम दुःखमय हुआ करता है। अतएव, अपने कर्मसंबंधी व्यापारों का निर्वाह, उन्हें यज्ञ वा कर्त्तव्य मानकर, करना चाहिए जिससे अंतमें दुःखों की निवृत्ति हो जाय तथा स्वर्ग वा अत्यंत सुख की प्राप्ति भी हो सके। इस मार्ग की एक विशेषता यह थी कि इसमें प्रचलित साधना वा ज्ञानयोग की आत्मोपासना के स्थान पर एक प्रकार की कर्मोपासना का समावेश हो जाता था और जिस प्रकार इसका अंतिम लक्ष्य अत्यंत सुख वा शाश्वत आनंद था उसी प्रकार इसके यज्ञादि अनुष्ठानों में 'प्रीति' के एक अंश का भी विद्यमान रहना विशेष-रूप से आवश्यक समझा जाता था।[1] इन दोनों मार्गों को क्रमशः 'निवृत्ति-मार्ग' और 'प्रवृत्ति-मार्ग' भी कहा जाता था।

उपर्युक्त दोनों मार्गों के सिद्धांत इस प्रकार, परस्पर-विरुद्ध थे और दोनों की स्वीकृत पद्धतियां भी नितांत भिन्न-भिन्न थीं। अतएव दैनिक जीवन में कभी-कभी समस्या उपस्थित हो जाने पर दोनों में से किसी एक को सहसा अपना लेना सरल नहीं था। कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध लड़ाई के समय पांडव अर्जुन के सामने कुछ ऐसी ही कठिनाई आ पड़ी थी। तब वह युद्ध के आरंभ में श्रेणीबद्ध सिपाहियों के बीच अपने संबंधी-जनों को देखकर तथा उनकी भावी हत्या की आशंका से क्षुब्ध होकर कर्तव्य-विमूढ़ हो गया और अपने मित्र एवं सारथी श्रीकृष्ण से अपने लिए कोई श्रेयस्कर मार्ग निश्चित करने के उद्देश्य से शिष्यवत् अनुरोध करने लगा था।[2] श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसे समझाया कि "भावी सुख की प्राप्ति

---

[1]गोस्वामी : 'भ० क०', पृ० ४९

[2]यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
    श्रीमद्भगवद्गीता, २।७

के लिए लड़ना अपना कर्तव्य मानकर तुम इस समय क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे और कतिपय संबंधियों के मारे जाने की आशंका मात्र ने तुम्हें यहां पर अपने लक्ष्य की ओर से उदासीन कर दिया। इसका कारण केवल यही है कि वस्तुस्थिति के नैतिक स्वरूप की तुमने ठीक आलोचना नहीं की। तुम्हारा यह सोचना कि लड़ाई करने पर मेरे ऊपर कई प्रकार के उत्तरदायित्व आ जायेंगे, अतएव, इसे उचित होने पर भी छोड़ दें, निरी मूर्खता मात्र है। वास्तव में कोई कार्य किसी के छोड़ने से नहीं छूट सकते और न उनके करने मात्र से ही किसी प्रकार का बंधन आ सकता है। बंधन का मूल कारण उस कार्य के फल की आशा करने में निहित है। इसलिए यह आवश्यक है कि जो कुछ भी किया जाय वह यज्ञार्थ वा कर्त्तव्यमात्र समझकर किया जाय। उसके परिणाम की बात को अपने अधीन न जानकर, उसे भगवान पर छोड़ दिया जाय।" ऐसा करने से एक ओर जहां अपने किसी कर्म के छोड़ने वा न छोड़ने का प्रश्न नहीं उठता वहां दूसरी ओर, फल की आशा वा वासना से निर्वृत्ति पा जाने से हमें किसी प्रकार के बंधन का भय भी नहीं रहता। सभी कुछ एक सच्चा-सीधा कर्तव्य मानकर करना और उसके फल को भगवान के हाथ की बात समझना, हमें सभी प्रकार की चिंताओं से मुक्त कर देता है। हमारे हृदय में एक अपूर्व आत्मविश्वास और आनंद का भाव भी जागृत हो जाता है। श्रीकृष्ण ने इस उपदेश द्वारा उक्त दोनों प्रचलित मार्गों को एक प्रकार से मर्यादित कर उनका समन्वय कर दिया और एकमात्र भगवान पर भरोसा करने की भावना को महत्त्व देकर इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय को एक नवीन प्रकार के कर्मयोग में परिणत कर दिया जो भागवतों के बीच 'एकांतिक धर्म' के नाम से प्रसिद्ध है।

भागवतों की दृष्टि में यह एकांतिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है और यह स्वयं नारायण वा भगवान् को भी प्रिय है।[1] इसका सिद्धांत एक प्रकार से यों भी प्रकट किया जा सकता है कि मनुष्य को अपना प्रत्येक कार्य करते समय ऐसी धारणा बना लेनी चाहिए कि मैं इसके द्वारा भगवान की इच्छा-

---

[1]नूनमेकांतधर्मोऽयम् श्रेष्ठो नारायणप्रियः। महाभारत, १२।३४८।४



चतुर्भुजी कृष्ण
[कुशाणकालीन : मथुरा]



चतुर्भुजी कृष्ण
[गुप्तकालीन मृण्मूर्ति : मथुरा]

पूर्ति में केवल एक साधन मात्र हूं। ऐसी मनोवृत्ति के साथ निरंतर कार्य करते रहने पर अपने मानसिक विकारों से छुटकारा मिल जाता है। ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास दृढ़तर होता जाता है और सभी वस्तुओं को एक भाव से देखने का स्वभाव भी पड़ जाता है।[1] अतएव, इसके द्वारा ईश्वर के प्रति विशुद्ध प्रेम का होना तथा उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसमें लीन तक हो जाना कोई असंभव बात नहीं है। हां, निःस्वार्थ भाव के साथ विधिवत् कर्तव्य पालन करते रहना कोई सहज काम नहीं है, क्योंकि "इस पृथ्वी पर अथवा देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।"[2] "ये सत्व, रज और तम अव्यय देही (अर्थात् निर्विकार आत्मा) को भी शरीर के घेरे में डाल देते हैं"[3] और "वह अज्ञानी बनकर अपने को वस्तुतः इन त्रिगुणों द्वारा होनेवाले कर्मों का भी कर्ता मानने लगता है।"[4] फिर तो अहंकार के कारण आसक्ति का होना भी स्वाभाविक है और इससे बचने का एकमात्र उपाय यही है कि "सभी प्राणियों के हृदयों में रहकर उन्हें अपनी माया से किसी यंत्र पर चढ़ाये गए की भाँति घुमानेवाले भगवान"[5] में विश्वास कर "उसकी शरण में 'सर्वभाव' से जा गिरे और उसके अनुग्रह द्वारा परम शांति एवं

---

[1]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ३७

[2]न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ श्रीमद्भगवद्गीता, १८।४०

[3]सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ वही, १४-५

[4]प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥ वही, ३।२७

[5]ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ वही, १८।६१

नित्य स्थान के पाने का भागी वन जाय।"[1] श्रीकृष्ण ने इस धर्म का उपदेश देते समय "मुझसे परे और कुछ भी नहीं है और किसी धागे में पिरोए हुए मणियों के समान, मुझमें सभी कुछ गुँथा हुआ है"[2] जैसे भाव भी अनेक स्थलों पर व्यक्त किए थे और अर्जुन का ध्यान वार-वार इसी वात की ओर आकृष्ट किया था कि "जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है।"[3] ईश्वर वा भगवान एवं वासुदेव-कृष्ण इस प्रकार इस धर्म के अनुसार एक ही थे और उसी 'एक' की उपासना 'अनन्य' योग द्वारा करने के लिए कहा गया था कि "मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धि को स्थिर कर, इससे तू निःसंदेह मुझमें ही निवास करेगा,"[4] और "मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त वन जा, मेरा भजन कर, और मेरी वंदना कर। मैं तुझसे सच्ची प्रतिज्ञा कर कहता हूं कि इसके द्वारा तू मुझमें आ मिलेगा।"[5] आत्मसमर्पण और एकांतनिष्ठा[6] इस धर्म की सर्वप्रमुख बातें थीं और इसी कारण इसका 'एकांतिक धर्म' नाम भी सार्थक था।

---

[1]तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ श्रीमद्भगवद्गीता, १८।६२

[2]मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ वही, ७।७

[3]वासुदेवः सर्वमिति। वही, ७।१९

[4]मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ वही, १२।८

[5]मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे॥ वही, १८।६५

[6]मामेकं शरणं व्रज। वही, १८।६६

४. वैष्णवधर्म का समन्वयात्मक रूप

सात्त्वत, भागवत वा एकांतिक धर्म का एक अंतिम विकसित रूप पांचरात्रधर्म था जो ईसा के पूर्व लगभग तीसरी शताब्दी से प्रचलित हुआ था और जिसमें भगवान की भक्ति का समर्थन अनेक तंत्रों वा संहिताओं के आधार पर भी किया गया था। किंतु वैष्णवधर्म के रूप में वह क्यों और किस प्रकार परिणत हुआ यह बतलाना बहुत कठिन है। सात्त्वत धर्म वस्तुतः वैदिक कर्मकांड-युग की कतिपय रूढ़ियों का सुधार करने के उद्देश्य से ही आरंभ हुआ था। उसने यज्ञादि अनुष्ठानों में बहुधा की जाने वाली हिंसा का अपने अहिंसा-संबंधी सिद्धांतों द्वारा विरोध किया और ध्यानयोग द्वारा केवल आत्मचिंतन-मात्र में निरत रहनेवाले निवृत्तिमार्गियों को कर्त्तव्य-कर्म के फलाशा-त्याग की शिक्षा देकर कर्मयोगी बनाया। इसका भक्तिमार्ग भी पहले समय की श्रद्धा एवं उपासना का एक विकसित रूप था। किंतु 'पांचरात्रधर्म' के रूप में इसने अनेक नवीन बातों को भी अपनाया और कुछ काल के लिए एक विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। देश में इन्हीं दिनों कतिपय अन्य सुधारक संप्रदायों का भी प्रचार होने लगा था जिनमें से जैन एवं बौद्धधर्म प्रधान थे। ये दोनों धर्म निरीश्वरवादी थे और सनातन वैदिकधर्म तथा उसके उक्त सुधरे हुए रूपों पर भी उनकी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। इन दोनों की प्रतियोगिता अथवा इनका सामना करने के उद्देश्य से ऐसे सभी दलों का संगठन आरंभ हुआ। जान पड़ता है कि इस प्रकार के प्रयत्नों का ही परिणाम था कि सात्त्वत-धर्म अन्य कई विशिष्ट धार्मिक विचारों के साथ समन्वित होकर वैष्णव-धर्म बन गया।

इस संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कर्मयोग में जिस ज्ञान-कर्म-समुच्चय की ओर संकेत था वही पीछे वेदांत-

दर्शन द्वारा भी अपनाया गया और पिछले कर्मकांड के समर्थन में उसे स्मार्त-धर्म ने भी महत्त्व दिया। इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय के अनुसार मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय अपना चित्त सदा उस परमात्मा की ओर लगाए रहना आवश्यक है जो सभी कर्त्तव्यों को निर्धारित कर उनके पालन के विषय में विधान बनाया करता है और उनकी पूर्ति हो जाने पर उन्हें अपने अधिकार में भी ले लेता है। स्मार्तधर्म के दार्शनिक सिद्धांतानुसार ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ईश्वराधीन तथा माया अथवा प्रकृति के दो पक्षस्वरूप हैं और ईश्वर माया एवं मायातीत के बीच एक संयोजक वस्तु के समान है। यही ईश्वर नारायण वा ब्रह्मा है जिसमें सभी कुछ निहित है, अतएव जो कुछ आत्मा के वास्तविक स्वार्थ के लिए किया जाय उसका परमात्मा के लिए भी होना समझा जा सकता है और वही सारी सृष्टि के निमित्त भी है। आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति, इस प्रकार, एक के ही अंगमात्र हैं और एक के लिए जो भला-बुरा होगा वह सबके लिए भी हो सकता है। उस एक की आराधना भी, इसलिए, इन सबकी आराधना कही जायगी। क्योंकि वह सबमें ओतप्रोत है और यदि इस विचार के साथ देखा जाय तो परमात्मो-पासना का पूर्वकथित रूप एक प्रकार की भावना-भक्ति में परिणत हो जाता है।[१] नवीन वैष्णवधर्म ने इस भावना भक्ति में भी कदाचित् अपनी 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा प्रतिपादित निष्ठा की ही एक झलक पाई और उसे अविलंब स्वीकार कर लिया।

वैष्णवधर्म को अपना तत्कालीन अंतिम रूप धारण करते समय एक नवीन घटना ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। डा० भांडारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी तक के किसी भी प्रामाणिक भागवतधर्म-संबंधी ग्रंथ में (अथवा शिलालेख में भी) गोपाल-कृष्ण की चर्चा नहीं पाई जाती और न उसका कोई परिचय ही उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध ईसा के अनंतर आनेवाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियां इस कृष्ण की अनेक कथाओं से भरी पड़ी हैं जिससे अनुमान किया जा सकता

---

[१]गोस्वामी : 'भ० क०', पृ० ८०-२

है कि उक्त दोनों समयों के बीच कोई न कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी। यह बात वा घटना, डा० भांडारकर के अनुसार, किसी आभीर जाति का पश्चिम के देशों से घूमते हुए आकर भारतवर्ष में मथुरा-प्रदेश के आसपास से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ के प्रांतों तक के क्षेत्र में फैलकर बस जाना है। इस जाति की मुख्य जीविका गायों का रखना और चराना थी। इसका आराध्य-देव भी एक बालक था, जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव-कृष्ण में सम्मिलत कर लिया गया। क्राइस्ट के नामसाम्य के कारण बालक कृष्ण की अनेक लीलाएं ईसा मसीह की जन्मकथाओं के ढर्रे पर रच ली गईं और पीछे लिखे जानेवाले 'विष्णुपुराण', 'हरिवंश', 'भागवत' 'वैवर्तपुराण' आदि ने उनमें और भी वृद्धि कर दी।[१] परंतु इस मत को स्वीकार करने में एक अड़चन यह पड़ती है कि तामिल प्रदेशों में आभीरों को 'अंयर' कहते हैं, जिनके नाम का अकार गाय का अर्थ सूचित करनेवाले शब्द 'आ' से बना सिद्ध होता है और जिनकी प्राचीन जातीय परंपराओं से प्रकट होता है कि वे प्रसिद्ध पांड्यों के साथ, ईसा से कई शताब्दी पहले यहां आए थे।[२] दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि गोपाल-कृष्णकी कल्पना तथा बहुत-सी उनकी बाल-लीलाओं की कथाओं का मूलस्रोत वैदिक साहित्य के अंतर्गत, विष्णु देवता के प्रसंगों में ही वर्त्तमान हैं। 'ऋग्वेद' में विष्णुको 'गोपा' कहा गया है[३] और एक अन्य स्थल पर उनके परमपद वा स्थान में उत्तम-उत्तम सींगों वाली गायों का रहना भी बतलाया गया है।[४] फिर उसी वेद में विष्णु का बाल्यावस्था पार कर युवा होना दिखलाया गया है[५] और उसके द्वारा शंबर तथा उसकी नगरियों

---

[१]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ४९-५० तथा ५२
[२]कनकसभाई : 'तामील्स, एटीन हंड्रेड इयर्स एगो', पृ० ५७
[३]विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। ऋग्वेद, १।२२।१८
[४]यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः। वही १।१५४।६
[५]बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्। वही, १।१५५।६

के नष्ट किए जाने के लिए प्रार्थना भी की गई है।[1] इसी प्रकार बोधायन-सूत्र[2] में भी विष्णु को 'गोविंद' और 'दामोदर' कहा गया है यद्यपि वहां पर कृष्ण की कोई भी चर्चा नहीं आती। अतएव, गोपाल-कृष्ण की लीलाओं का क्राइस्ट वा ईसा मसीह की कथाओं के आधार पर बनाया जाना निर्विवाद नहीं समझा जा सकता। ईसा की जन्मकथा तथा आभीरों के बालक-देवता की लीलाओं से उपर्युक्त मूलरूपों का कुछ प्रभावित हो जाना संभव है।

नवीन वैष्णवधर्म का संघटन, डा० भांडारकर के अनुसार, वस्तुतः चार धार्मिक विचारधाराओं का परिणाम था जिनमें से प्रथम के मूल-स्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी के दार्शनिक देवता नारायण थे, तीसरी के ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे और चौथी के आभीर देवता बालगोपाल थे और इन चारों की कथाओं की परंपराओं ने इसके निर्माण में कुछ न कुछ सहायता प्रदान की। 'वैष्णव' शब्द सांप्रदायिक दृष्टि से 'महाभारत' के अठारहवें अर्थात् अंतिम पर्व में प्रस्तुत हुआ है, जहां पर कहा गया है कि "इसमें संदेह नहीं कि अठारहों पुराणों के श्रवण करने का जो फल होता है उसे मनुष्य केवल वैष्णव होकर ही प्राप्त कर लेता है।"[3] यह श्लोक वास्तव में उस समय का लिखा हुआ है जबकि, ईसा की कुछ शताब्दियों के बीत जाने पर प्रसिद्ध अठारह पुराणों की रचना समाप्त हो चुकी थी। 'महाभारत' के युद्ध अथवा 'महाभारत' ग्रंथ के प्रामाणिक प्राचीन अंशों की रचना के समय वैष्णवधर्म का वही रूप वर्त्तमान था जिसे सात्त्वत वा भागवतधर्म कहा जाता है। विष्णु देवता उस समय तक आदित्यों में से ही एक समझे जाते थे। श्रीकृष्ण ने भी इसी कारण अपने को "आदित्यों

---

[1]'इंद्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्। शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्य सुरस्य वीरान्॥' ऋग्वेद, ७।९९।५

[2]२।५।२४

[3]अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥ महाभारत, १८।६।९७

में विष्णु"[1] बतलाया था। 'महाभारत' के एक दूसरे स्थल पर विष्णु को कदाचित् भगवान् नारायण या हरि का रूप समझ कर ही, 'धाता', 'अज' और 'अमृत' कहा गया है तथा उन्हें सबके माता-पिता एवं सारे संसार के शाश्वत गुरु की उपाधि भी दी गई है।[2] फिर भी उस काल के प्रमुख उपास्य-देव विष्णु नहीं थे, अपितु वासुदेव थे। वे ही इस धर्म के प्रारंभिक केंद्र-विंदु का काम कर, अंत में, विष्णु के एक अवतारमात्र बने रह गए।

वैष्णवधर्म का उक्त संघटन, भक्तियोग अथवा भक्तिभावना के विकसित होकर अधिक व्यापक रूप ग्रहण करने में विशेषरूप से सहायक हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है: भक्ति की भावना, सर्वप्रथम, वैदिक काल में केवल श्रद्धा के ही रूप में उत्पन्न हुई थी और उपासना की विविध क्रियाओं द्वारा क्रमशः निखरती हुई स्मार्त्तधर्म के आरंभ वा प्रचार-काल तक भावना-भक्ति के स्पष्टतर भाव अपनाने लगी। उसके उपास्य-देव भी, इसी प्रकार, वैदिक काल के अनेक काल्पनिक देवताओं के स्थान पर एकरूप में मनोनीत हुए थे। फिर, परमात्मा की भी विविध भावनाओं द्वारा व्यक्त किए जाते हुए, उक्त समय तक, सबके एक समन्वयात्मक रूप में आ गए। उधर उसी युग के अंतर्गत वासुदेव-कृष्ण के असाधारण व्यक्तित्व को क्रमशः महापुरुषत्व एवं देवत्व तक प्रदान करने की प्रथा चल रही थी। अतएव जब इन दोनों के पारस्परिक मिलन का अवसर उप-स्थित हुआ और, जैन तथा बौद्ध सरीखे निरीश्वरवादी धर्मों की प्रति-क्रिया में, जब 'साधकानां हितार्थाय ब्राह्मणो रूपकल्पना' की विशेष आव-श्यकता प्रतीत हुई तो आराध्यदेव विष्णु को स्वभावतः विग्रह प्रदान कर दिया गया। विष्णु को सभी अन्य देवताओं से इसके लिए अधिक उपयुक्त समझने का प्रधान कारण यह था कि पहले तो उनका नाम ही (विष् व्यापना के कारण) सर्वव्यापकत्व का द्योतक था, दूसरे वैदिक काल के आरंभ से ही उनका काम दुःखों से पीड़ित मानवों की रक्षा करना समझा

---

[1]आदित्यानामहं विष्णुः। श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२१

[2]पितामाता च सर्वस्य जगतः शाश्वतो गुरुः। महाभारत, १२।३३४।२७

जाता था[1] और वे असुरों के विरुद्ध देवताओं तक के सहायक थे।[2] इसके सिवाय, उपर्युक्त चार विचारधाराओं का संगम हो जाने पर, विष्णु-संबंधी अनेक नाम तथा प्रसंग तक भी नवीन भावनाओं के अनुकूल प्रतीत होने लगे। अतएव इस देवता को एक प्रकार का आध्यात्मिक एवं अलौकिक व्यक्तित्त्व प्रदान कर उसके अंशधारी भिन्न-भिन्न अवतारों की भी कल्पना कर ली गई और भक्ति का उक्त भावनात्मक अर्थ, जब अधिक स्पष्ट होने के कारण आराध्यदेव की शक्ति एवं ऐश्वर्य में सहयोगिता वा सहभोगिता (भज् = भाग लेना, बाँटना) प्राप्त करने भाव का व्यक्त करने लगा तो इस प्रकार की साधना 'शुद्धभक्ति' के रूप में परिणत हो गई।

'शुद्धभक्ति' के अनुसार आराध्यदेव विष्णु के तीन गुण उनकी संविद्, ह्लादिनी तथा संधिनी नामक शक्तियां हैं जो मानवों में भी उसी भाँति, क्रमशः ज्ञान, आनंद, एवं कर्मसंबंधी प्रवृत्तियों के रूप में दिखलाई पड़ती हैं और जिन्हें, वेदांत-दर्शन के अनुसार, दूसरे शब्दों में, तथा कुछ भिन्न क्रम से भी, सत्, चित् और आनंद कहा जाता है। भक्त का कर्त्तव्य भगवान् के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण कर उनके उपयुक्त गुणों की पूर्णता में भाग लेना है। ज्ञान की इच्छा उसे किसी योगी से कम नहीं रहा करती, किंतु उसका उद्देश्य 'विदेह-मुक्ति' नहीं है। वह अपने भगवान् के साथ पूर्णत्व के आनंद में भाग लेना चाहता है और उसका एकमात्र कर्त्तव्य इसी कारण, अपने भगवान् की शुद्ध और अबाधित आराधना है। उसकी दृष्टि में यज्ञादि अनुष्ठान भी केवल आत्मसमर्पण के ही प्रकारांतर हैं और उसकी यह दृढ़ धारणा है कि कर्मयोग और संन्यासयोग का अंततोगत्वा भक्ति-योग में लीन हो जाना अवश्यंभावी है। आदर्श कर्म उस पूर्णता की प्राप्ति के लिए मनोयोगपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करना है और उसी ढंग से आदर्श ज्ञान भी उस पूर्णत्व को ही सच्ची अनुभूति के साथ जानना है।

---

[1] यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय। ऋग्वेद, ६।४९।१३

[2] शतपथब्राह्मण, १।२।२-५

शुद्धभक्त उस पूर्णत्व का ही अनुभव करेगा, उसीके लिए जिएगा और उसी के साथ अनंत काल तक रहना भी चाहेगा। इस भक्तिमार्ग में अंतिम पूर्णता ने भी, इस प्रकार, अनुभवगम्य रूप धारण कर लिया और इसके द्वारा सभी मतों एवं मार्गों का समन्वय होकर, एक सच्चे और वास्तविक दिव्य जीवन का आदर्श निश्चित हो गया, जिसके आलोक में अपूर्व रूप धारण कर लेने के कारण वैष्णवधर्म क्रमशः और भी लोकप्रिय होने लगा।

ईसा की तीसरी वा चौथी शताब्दी तक वैष्णवधर्म की दशा का प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। वह इसके लिए एक प्रकार का अंधकारपूर्ण युग है जिसका कारण यह जान पड़ता है कि इस धर्म की जन्मभूमि मथुरा प्रदेश तक उन दिनों शक एवं कुशाण-वंशी राजाओं का आधिपत्य हो गया था जो अधिकतर शैव अथवा बौद्धधर्म के अनुयायी थे। फिर भी मथुरा, नासिक तथा 'चाइनास्टोन' वाले उक्त समय के शिलालेखों से इस विषय पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इनमें से नासिक वाले शिलालेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल तक संकर्षण और वासुदेव अपने वृष्णिवंशी रूपों को बदलकर अब क्रमशः राम और केशव हो गए थे और इन दोनों को भागवत होने के स्थान पर केवल पराक्रमी मात्र समझा जाने लगा था।[1] परंतु गुप्तकाल का आरंभ होते ही यह धर्म पंजाब, राजस्थान, मध्य और पश्चिमी भारत तथा मगध में प्रचलित होने लगा और उसके अंत तक इन प्रदेशों तथा अन्य कई स्थानों तक में इसका प्रचार अनुदिन बढ़ता ही चला गया। कारण यह था कि गुप्तवंश के प्रसिद्ध महाराज चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त एवं स्कंदगुप्त ने भी (ईस्वी सन् ४०० से ४६४ तक) अपनी मुद्राओं पर अपने को 'परमभागवत' अंकित कर इसे राजधर्म की भाँति अपना लिया और उनके समर्थन द्वारा बल पाकर यह भारत के कोने-कोने तक फैल गया। ग़ाज़ीपुर ज़िले के स्कंदगुप्त-निर्मित भीतरी नामक शिलालेख में सम्राट् द्वारा अपने पिता कुमारगुप्त प्रथम की पुण्यस्मृति में 'शार्ङ्गिन' की प्रतिमा स्थापित किए जाने का उल्लेख

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वैं०', पृ० ९८-९

है और उसी प्रकार जूनागढ़ के दूसरे शिलालेख में 'लक्ष्मीनिवास' विष्णु की स्तुति भी की गई है।[1] महाकवि कालिदास की रचना 'मेघदूत' में एक स्थल पर इंद्रधनुष द्वारा सुशोभित काले मेघ के लिए मोरपंख धारण करने वाले गोपवेषधारी विष्णु (अर्थात् श्रीकृष्ण) की उपमा दी गई है।[2] अतएव यदि चंद्रगुप्त द्वितीय को हम उक्त कवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य मानलें, तो यह वर्णन ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आरंभ का समझा जाना चाहिए।

गुप्तकालीन वैष्णवधर्म की विशेषताएं इस प्रकार बतलाई जा सकती हैं—प्रथम यह कि सात्त्वतों वा भागवतों ने इस समय तक विष्णु के साथ कृष्ण का एकीकरण, प्रकट रूप में, स्वीकार कर लिया था। विष्णु अव देवाधिदेव थे और कृष्ण उनके केवल पूर्ण अवतार मात्र थे जिससे स्पष्ट था कि भागवतधर्म तव तक वैष्णवधर्म में मग्न हो चुका था। दूसरी यह कि अवतारों की पूजा इस समय पहले से कुछ अधिक होने लगी थी और उनके नाम तथा संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्त्तन भी होने लगे थे। तीसरी यह कि अवतार पूजा के महत्त्व के सामने व्यूहवाद कुछ गौण समझा जाने लगा था और उसकी चर्चा अव वहुत कम सुनाई पड़ती थी। इसके सिवाय इसकी चौथी विशेषता यह भी थी कि विष्णु वा नारायण के साथ-साथ अव लक्ष्मी की भी पूजा आरंभ हो गई थी और लक्ष्मीनारायण की मूर्त्तियां उस समय की मुद्राओं तक पर अंकित होने लगी थीं।[3] कहते हैं कि वैदिक युग के इंद्रदेव अपने प्रार्थियों को वृष्टि द्वारा जल एवं अन्न दिया करते थे। इसलिए वे ही 'इरा' वा 'इला' (उन दोनों

---

[1] रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० १-२

[2] रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्।
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खंडमा खंडलस्य॥
येन श्यामं वपुरतितरां कांतिमापत्स्यते ते।
वर्हेणेव स्फुरितरुचिता गोपवेषस्य विष्णोः॥ मेघदूत, १।१५

[3] रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० १०४-६

के लिए प्रयुक्त शब्द) के स्वामी थे। फिर समयानुसार 'इरा' वा 'इला' को धन वा संपत्ति भी समझा जाने लगा। इस प्रकार, क्रमशः श्री अथवा लक्ष्मी मनुष्य के उन अमूल्य पदार्थों की प्रतिनिधि बन गईं। परंतु श्री वा लक्ष्मी उस समय इंद्रदेव के ही अधिकार में रहीं। 'विष्णुपुराण' के अनुसार इंद्रदेव ने लक्ष्मी को, दुर्वासा के शाप के कारण, खो दिया और समुद्र-मंथन के उपरांत जब वह फिर प्रकट हुईं तो उन पर विष्णु ने अधिकार कर लिया।[1] विष्णुदेव तब तक सर्वश्रेष्ठ समझे जाने लगे थे और वैष्णवधर्म के संगठन के समय तो वे ही सब कुछ हो गए थे। 'श्री मा देवता लक्ष्मी' की पूजा ईसा के पहले से ही ब्राह्मण और बौद्ध दोनों किसी न किसी रूप में करते आ रहे थे और गुप्तकाल में जब "स्त्रियों के अधिकार का प्रबल आंदोलन उठा"[2] तो उनकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। इसलिए, सांख्यदर्शन द्वारा भी बहुत-कुछ प्रभावित होने के कारण, वैष्णवों ने पुरुष-प्रकृति की जगह 'लक्ष्मीनारायण' को अपना लिया।[3] वैष्णवधर्म इन विशेषताओं के साथ गुप्तकाल में भली-भाँति प्रचलित रहा। किंतु गुप्त-साम्राज्य का ध्वंस होते ही उत्तरी भारत में इसका प्रभाव क्रमशः घटने लगा। इधर के प्रमुख महाराज मिहिरगुल, यशोवर्धन तथा हर्षवर्धन ने भी, भागवतधर्म से भिन्न धर्म ग्रहण करने के कारण, इसे सहायता नहीं पहुँचाई और वह अन्य अनेक साधारण संप्रदायों की भाँति किसी प्रकार चलता रहा। वाणभट्ट के 'हर्षचरित' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में हर्ष का जैनों तथा बौद्धों के समान ही भागवतों के भी साथ मिलना बतलाया गया है और उसमें पांचरात्रों की भी चर्चा है तथा स्वामी शंकराचार्य ने भी अपने 'शारीरकभाष्य' में भागवतों का खंडन उन्हें पांचरात्र कह कर किया है।[4]

---

[1]गोस्वामी : 'भ० क०', पृ० १०४

[2]भगिनी निवेदिता : 'फ़ुटफ़ाल्स अव् इंडियन हिस्ट्री', पृ० २०६

[3]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० १०६ [4]वही, पृ० १०७

५. व्यूहवाद और अवतारवाद

भागवत, सात्त्वत वा एकांतिक धर्म के विषय में 'महाभारत' के 'नारायणीय' नामक अंश में कहा गया है कि स्वयं भगवान् ने ही पहले-पहल इसे अर्जुन को बतलाया था और फिर नारायण ने भी इसका उपदेश नारद को दिया।[1] नारद इसके लिए नारायण का दर्शन करने श्वेतद्वीप गए थे जहां पर नियम था कि बिना उनका एकांतिक अथवा एकनिष्ठ भक्त हुए कोई उन्हें देख नहीं पाता था। नारद इस प्रकार के भक्त समझे गए थे और इसी कारण उनसे इस वासुदेवधर्म की व्याख्या भी की गई। वासुदेव को वहां पर 'आत्मा का आत्मा' अर्थात् परमात्मा कहा गया है और उन्हें सब किसी का स्रष्टा भी माना गया है। संकर्षण उन्हींके एक दूसरे रूप हैं और वे सभी प्राणियों के प्रतिनिधि-स्वरूप भी हैं। संकर्षण से प्रद्युम्न वा मन की उत्पत्ति होती है और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध वा अहंकार उत्पन्न होता है। ये चारों ही नारायण वा वासुदेव की मूर्तियां हैं। देवता एवं सारे प्राणिवर्ग भी नारायण से उत्पन्न होकर नारायण में ही विलीन हो जाते हैं।[2] नारायण को इस प्रसंग में बहुधा हरि नाम भी दिया गया है और नारायण वा हरि की उक्त चारों मूर्त्तियों वा विभूतियों के संबंध में ही 'व्यूहवाद' का प्रचार हुआ था।

व्यूहवाद के मत का कोई उल्लेख 'श्रीमद्भगवद्गीता' में नहीं आता यद्यपि उसमें वासुदेव-कृष्ण की अष्टधा प्रकृति में पंचतत्त्वों के साथ-साथ

---

[1] महाभारत, १२।३४६।१०-११ तथा १२।३४८।६-८
[2] भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ८

मन, बुद्धि, जीव एवं अहंकार की भी स्पष्ट चर्चा कर दी गई है।[1] जान पड़ता है कि जीव, मन एवं अहंकार को ही पीछे संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का व्यक्तित्त्व प्रदान कर दिया गया।[2] पतंजलि ने भी अपने 'भाष्य' में "जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव" कह कर कदाचित् इस व्यूहवाद की ही ओर संकेत किया है।[3] डा० भांडारकर का अनुमान है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' की रचना भागवतधर्म के सुसंगठित रूप में तयार होने के पहले ही हो चुकी थी और वासुदेव के प्रद्युम्नादि कुटुंबी-जनों के रूपों में परमात्मा की प्रकृतियों का दिखलाया जाना उसके पीछे की घटना है।[4] घसुंडी के शिलालेख तथा पतंजलि के एकाध उल्लेखों[5] द्वारा यह अवश्य प्रतीत होता है कि वासुदेव के अतिरिक्त संकर्षण वा बलदेव का भी उपास्य होना ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से ही सिद्ध है और यह बात बौद्ध ग्रंथ 'निद्देश' के एक प्रसंग से भी सूचित होती है।[6] किंतु चारों के व्यूह का पता महाभारत (शांतिपर्व) के उपर्युक्त 'नारायणीय' अंश से अन्यत्र उधर नहीं मिलता। 'श्रीमद्भगवद्गीता' का समय उक्त डाक्टर साहब के अनुसार[7] ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के आरंभ से भी पहले का है और 'नारायणीय' की रचना, संभवतः, तीसरी शताब्दी (ईसा-पूर्व) की है।

संकर्षण के उपास्य होने तथा उनकी पूजा का उल्लेख कौटिल्य के

---

[1]'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥' श्रीमद्भगवद्गीता ७।४-५

[2]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १७

[3]पाणिनि के सूत्र ६।३।६ पर उनका भाष्य द्रष्टव्य है।

[4]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १७

[5]जैसे उनका पाणिनि के सूत्र २।२।३४ पर भाष्य।

[6]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ५६

[7]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १८

'अर्थशास्त्र' में भी मिलता है।[1] 'महाभारत' के प्रारंभिक अंशों में संकर्षण कृष्ण वासुदेव के बड़े भाई बतलाए गए हैं और यह भी कहा गया है कि उन्होंने कंस के विरुद्ध इनकी सहायता भी की थी।[2] किंतु 'शांतिपर्व' के उक्त 'नारायणीय' वाले अंश में वासुदेव परमात्मा एवं संकर्षण जीव बन जाते हैं।[3] इस वासुदेव एवं संकर्षण की पूजनीयता में ही हमें सर्वप्रथम पांचरात्रों के व्यूहवाद का बीज लक्षित होता है। डा० ग्रियर्सन ने[4] व्यूहवाद के सिद्धांत का परिचय इस प्रकार दिया है—"भगवान् वासुदेव, सृष्टिरचना के समय अपने आप से न केवल सांख्यों की अव्यक्त मूल प्रकृति को ही उत्पन्न करते हैं अपितु संकर्षण नामक विशिष्ट जीव अथवा उसके एक व्यूह को भी प्रस्तुत कर देते हैं। इस संकर्षण एवं प्रकृति के संयोग से 'मन' प्रकट होता है जो सांख्य वालों की 'बुद्धि' का स्थानापन्न कहा जा सकता है और उसके साथ ही उक्त विशिष्ट जीव का एक अन्य प्रतिरूप प्रद्युम्न के रूप में आविर्भूत हो जाता है। प्रद्युम्न एवं मन के संयोग से सांख्यमत वालों के 'अहंकार' नामक तत्त्व का आविर्भाव होता है और उसके साथ उक्त जीव का एक तीसरा क्रम अनिरुद्ध के नाम से प्रकट होता है। इस अनिरुद्ध तथा सांख्य के 'अहंकार' के संयोग से महाभूतों तथा उनके गुणों की सृष्टि होती है और तभी उस ब्रह्मा की भी उत्पत्ति होती है जो तत्त्वों की सामग्री से पृथ्वी आदि की रचना करते हैं।" पांचरात्रों ने नारायण के छः दिव्य गुणों की चर्चा की है और उनके नाम ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य एवं तेज बतलाए हैं। इनमें से दो-दो गुणों की प्रधानता के अनुसार तीन व्यूहों की सृष्टि हुआ करती है। जैसे संकर्षण में ज्ञान तथा बल का प्राधान्य रहता है, प्रद्युम्न में

---

[1] रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ५७

[2] महाभारत, २।७९।२३ तथा २।१४।३४

[3] यं प्रविश्य भवंतीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः।
स वासुदेव विज्ञेयः परमात्मा सनातनः॥ वही, १२।३३९।२५
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः॥ वही, १२।३३९।४०

[4] इंडियन ऐंटिक्वेरी, (१९०८), पृ० २६१

ऐश्वर्य तथा वीर्य की अधिकता पाई जाती है और अनिरुद्ध में शक्ति एवं तेज की प्रधानता रहती है। फिर भी इन व्यूहों में सामान्य रूप से उक्त छहों गुण विद्यमान रहा करते हैं और इन तीनों के कार्य सृजन और शिक्षण संबंधी हुआ करते हैं।[1] परंतु स्वामी शंकराचार्य ने अपनी आलोचना करते समय, जिस 'चतुर्व्यूहसिद्धांत' का परिचय, अपने 'शारीरकभाष्य' में दिया है वह इससे भिन्न जान पड़ता है।[2]

व्यूहवाद के प्रसंग के उपरांत 'नारायणीय' में भगवान् के अवतार ग्रहण करने की भी चर्चा आई है। वहां पर भगवान् के केवल छः अवतारों का ही उल्लेख है जिनमें वाराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम एवं कृष्ण के नाम आते हैं। किंतु थोड़ी ही दूर आगे इन अवतारों के साथ हंस, कूर्म, मत्स्य एवं कल्कि के भी नाम जोड़ कर इनकी संख्या दस कर दी गई है। इनमें से भी प्रथम तीन के नाम प्रारंभ में ही आ जाते हैं और कृष्ण (सात्त्वत) की गणना अंतिम अवतार कल्कि के ठीक पहले की जाती है। 'हरिवंशपुराण' में इनमें से प्रथम छः की ही चर्चा की गई है। किंतु 'वायुपुराण' में पहले बारह अवतारों का उल्लेख है जिनमें से कुछ के नाम शिव एवं इंद्र के अवतारों से जान पड़ते हैं और फिर अन्यत्र इनकी संख्या केवल दस कर दी गई है जिनमें दत्तात्रेय एवं वेदव्यास भी आ जाते हैं। 'वाराहपुराण' में, सर्वप्रथम, उन दस अवतारों का उल्लेख आता है जो उपर्युक्त छः के अतिरिक्त चार अन्य को भी जोड़कर उस संख्या को पूरा करते हैं और जो लगभग उसी रूप में अब तक भी प्रसिद्ध हैं और 'अग्निपुराण' नें भी उसी का अनुसरण किया है।[3] 'भागवतपुराण' में अवतारों का स्पष्ट प्रसंग उसके तीन भिन्न-भिन्न स्थलों पर आता है। उसके प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों की चर्चा है जहां उसके द्वितीय स्कंध के सातवें अध्याय में यह संख्या २३ हो गई है और उसके एकादश स्कंध के चतुर्थ अध्याय में इन्हें केवल १६ कह कर ही गिनाया गया

---

[1]अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५।१७।६० [2]शारीरकभाष्य २।२।४२-४५
[3]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ५९

जान पड़ता है। इस पुराण के अंतर्गत बतलाए गए अवतारों की संख्या इस प्रकार न केवल बड़ी हो जाती है, अपितु उनके भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों का समावेश भी हो जाता है। उदाहरण के लिए उनमें सनत्कुमार, देवर्षि नारद, कपिल, ऋषभदेव तथा धन्वंतरि जैसे व्यक्तियों की भी चर्चा की गई है जो विष्णु से साधारणतः भिन्न जान पड़ते हैं। इसके सिवाय इन अवतारों के दुष्टदमन-संबंधी प्रारंभिक गुण के साथ-साथ क्रमशः उनकी कोमल वृत्तियों का भी समावेश होता जाता है।

अवतारवाद का सूत्रपात सबसे पहले 'ब्राह्मण' साहित्य की रचना के समय हुआ था। 'शतपथब्राह्मण' में प्रजापति का कूर्म-रूप धारण करके अपनी संतानों की सृष्टि करने तथा वाराह बनकर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को बाहर लाने के विषय में वर्णन किया गया है। विष्णु के वामन होकर, देवताओं के लिए तीन पगों द्वारा असुरों से पृथ्वी प्राप्त कर लेने की भी चर्चा 'ब्राह्मणों' में की गई है।[1] इसी प्रकार नृसिंह का उल्लेख पहले-पहल 'तैत्तिरीय आरण्यक' में किया गया मिलता है। परंतु इन ग्रंथों में आए हुए प्रसंगों द्वारा यह पता नहीं चलता कि उनका प्रयोग विष्णु के अवतारों के रूप में किया गया है। इस प्रकार के प्रथम उल्लेख 'नारायणीय' में ही किए गए जान पड़ते हैं और, आगे चलकर, इनकी चर्चा भिन्न-भिन्न ग्रंथों तथा शिलालेखों तक में होने लगती है। तोरमाण के एरण शिलालेख में वाराहावतार का स्पष्ट प्रसंग आता है। उसी प्रकार, जूनागढ़ के शिलालेख में वामनावतार का वर्णन किया जाता है। रामावतार का उल्लेख गुप्तकाल के शिलालेखों में नहीं पाया जाता। किंतु महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश के अंतर्गत "रामाभिधानो हरिरित्युवाच"[2] कह कर इसकी स्पष्ट चर्चा कर दी है। अवतारवाद का विषय, इस प्रकार, वैदिक संहिताओं के समय प्रायः अज्ञात-सा ही था और उनमें किए गए वामन आदि विषयक उल्लेख नितांत भिन्न प्रसंगों में आए थे। किंतु विष्णु का महत्त्व बढ़ने के साथ ही उनके स्वरूप में महान् परिवर्त्तन हो गया और उनकी संख्या

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ९६-७ [2]रघुवंश, १३।१



नृसिंह-वराह-विष्णु
[गुप्तकालीन : मथुरा]



विष्णु
[गुप्तकालीन : मथुरा]



भी बढ़ गई। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के समय जब एकांतिक धर्म के वासुदेव-कृष्ण ही एकमात्र आराध्य थे तब श्रीकृष्ण ने कहा था कि "जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता बढ़ जाती है तब-तब मैं स्वयं शरीर धारण कर लेता हूं।"[१] किंतु 'नारायणीय' की रचना के अनंतर वे अवतार-मात्र समझे जाने लगे और उनका धर्म भी विष्णु के नाम पर वैष्णवधर्म कहा जाने लगा।

वैदिक संहिताओं के युग में जिस प्रकार अनेक देवताओं (जैसे मित्र, वरुण, अग्नि, इंद्र आदि) को एक देवाधिदेव का भिन्न-भिन्न स्वरूप मानने की ओर प्रवृत्ति रही उसी प्रकार अवतारवाद के इस युग में भी, उसके विपरीत, भिन्न-भिन्न महापुरुषों को विष्णु के अंश अथवा अवतार के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। कभी-कभी पशु एवं मत्स्यादि जैसे प्राणियों तक को उसकी विभूतियों का केंद्र मान लिया गया। जब उक्त कई देवता मिलकर एक परमात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं तो वह परमात्मा भी विभिन्न रूपों में प्रकट हो सकता है। विष्णु का कार्य वैदिक काल से ही मनुष्यों को उनके कष्टों से मुक्त करने का था[२] और 'ऐतरेयब्राह्मण' के अनुसार, उन्होंने असुरों के विरुद्ध देवताओं की भी सहायता की थी। 'शतपथब्राह्मण' में तो एक स्थल पर[३] विष्णु और मानवों में एक प्रकार की अभिन्नता तक प्रदर्शित की गई है और 'श्रीमद्भगवद्गीता' के समय तक श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दों में कहते हुए दीख पड़ते हैं कि 'साधुओं की रक्षा एवं पापियों का संहार करने के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतीर्ण हुआ करता हूं।"[४] फिर भी प्रत्येक अवतार को हम एक ही कोटि की महत्ता नहीं दे सकते। वैष्णवधर्म के अनुयायियों में, इसी कारण, किसी न किसी एक अवतार-विशेष को सर्वश्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है, उदाहरण के लिए 'श्रीमद्भागवतपुराण' के अंतर्गत स्पष्ट शब्दों में कहा गया मिलता है कि "अन्य अवतार जहां भगवान् को केवल आंशिक रूप में व्यक्त करते हैं वहां

---

[१]'श्रीमद्भगवद्गीता', ४।७
[२]ऋग्वेद, ६।४९।१३
[३]शतपथब्राह्मण, ५।२।५।२-३
[४]श्रीमद्भगवद्गीता, ४।८

कृष्ण स्वयं भगवान्-स्वरूप हैं" ('एते चांशकला: पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्')। 'गर्गसंहिता' में भी इसी मत का प्रतिपादन किया गया जान पड़ता है और उसके रचयिता ने इसके लिए कुछ कारण भी दिए हैं। उनका कहना है कि श्रीकृष्ण की पूर्णता उनके चतुर्व्यूह का मूल आधार होने, उनमें सभी रसों के पूर्णतः दीख पड़ने तथा अनुपम शक्तियों का प्रमुख केंद्र होने के कारण सिद्ध है तथा अपने तेज में सभी तेजों को आकृष्ट कर उसमें लीन कर लेने के कारण वे 'परिपूर्णतम' भी हैं।[1] (कृष्ण शब्द कृष् धातु से बनता है जिसका अर्थ खींचना वा आकृष्ट करना होता है)।

वास्तव में ये अवतार भगवान् अथवा विष्णु के न्यूनाधिक ईश्वरीय गुणों का आदर्श स्थापित करने के लिए ही हुआ करते हैं। ये उसके जागतिक ('कॉस्मिक') स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसके उच्चतम आदर्शों को व्यक्तित्त्व के अनुसार प्रकट करते हैं। फिर भी इन्हें उसके 'नित्यावतार' की कोटि में रक्खा गया है और उसके 'गुणावतार' की श्रेणी में दूसरों की गणना की जाती है। गुणावतार के नाम से ब्रह्मा और शिव अभिहित किए जाते हैं और उनके साथ त्रिदेवों में स्वयं विष्णु भी गिन लिए जाते हैं। ऐसे अवतारों में कभी-कभी मनु लोग, प्रजापति, एवं बहुत से ऋषियों को भी सम्मिलित करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार अवतारों का एक अन्य वर्ग 'अर्चावतार' के नाम से भी प्रसिद्ध है जिसके अंतर्गत भगवान् की प्राण-प्रतिष्ठित प्रतिमाएं आती हैं और जो अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों में भक्तों द्वारा पूजी जाती हैं। इसके सिवाय भगवान् के 'विभवावतार' एवं 'अंतर्यामी अवतार' नामक दो अन्य प्रकार के अवतारों की भी चर्चा की जाती है जिनमें से विभवों की संख्या ३९[2] मानी जाती है और उसमें ध्रुव, कपिल, मधुसूदन, पद्मनाभ आदि के नाम आते हैं। 'अंतर्यामी अवतार' के किसी प्रत्यक्ष व्यक्तित्त्व की कल्पना स्थूल-रूप में नहीं की जाती और न उसकी कोई संख्या ही निश्चित की जा सकती है।

---

[1]गोस्वामी : 'भ० क०', पृ० १२५-६ [2]अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५।५०

'अंतर्यामी' सभी प्राणियों के 'हृत्पुण्डरीक' में निवास करते हैं और उनके समस्त व्यापारों का नियमन भी किया करते हैं।

परंतु इस प्रकार की अवतार-संबंधी कल्पनाओं का बाहुल्य अधिकतर गुप्तकाल से ही दीख पड़ता है। यों तो अवतारवाद, अपने बीज-रूप में, प्राचीन वैदिक काल से ही लक्षित होने लगा था और इसका क्रमिक विकास धीरे-धीरे होता गया था। 'नारायणीय' की रचना के समय से इसे कुछ काल के लिए व्यूहवाद के सामने उतना महत्त्व नहीं मिला। किंतु गुप्तकाल तक अधिक प्रचार में आजाने वाली अवतारोपासना ने व्यूहवाद की भावना को एक प्रकार से विस्मृत-सा करा दिया। 'नारायणीय' के अंतर्गत व्यूहवाद के साथ-साथ दस अवतारों को भी स्थान मिला था और पतंजलि के 'महाभाष्य' तथा घसुंडी एवं नानाघाट के शिलालेखों द्वारा प्रकट होता है कि व्यूहों की भावना, ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित थी। परंतु अवतारों की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने व्यूहों को एक प्रकार से निर्वासित-सा कर दिया और व्यूह के चार अंगों में से केवल वासुदेव-मात्र ही रह गए। व्यूहवाद की भावना वस्तुतः 'नारायण' वाली सृष्टि एवं सृष्टि-रचना की विशेषताओं पर आश्रित थी जहां अवतार-वाद 'विष्णु'-विषयक ईश्वरीय शक्ति और महत्ता का आदर्श लेकर चला था। अतएव एक वैदिक देवता से क्रमशः विकसित होते हुए वासुदेव-कृष्ण का भगवत्पद तक ग्रहण कर लेने वाले, विष्णु के सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लेने पर, जब एकांतिकधर्म वैष्णवधर्म में परिणत हो गया तो उपासकों का ध्यान, स्वभावतः, भगवान् के सृष्टिरचना-परक गुणों से कहीं अधिक उसके ऐश्वर्यों की ही ओर आकृष्ट हो गया और व्यूहवाद अब अवतारवाद के केवल 'गुणावतार' एवं 'अंतर्यामी अवतार' की आंशिक भावनाओं तक ही किसी न किसी प्रकार सीमित रह गया।

६. रामोपासना

इसमें संदेह नहीं कि वैष्णवधर्म के विकास का इतिहास विष्णु के कृष्णावतार को अधिक महत्त्व देता हुआ प्रतीत होता है। भक्तिमार्ग के प्रारंभिक युग से ही वासुदेव कृष्ण की चर्चा आरंभ हो जाती है और वैष्णव-धर्म का संघटन पूर्ण होने के समय उनका भागवत वा एकांतिक धर्म एक ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है जिसके साथ अपने को अभिन्न बनाते उसे देर नहीं लगती। वैष्णवधर्म, इस प्रकार, वस्तुतः भागवतधर्म का एक नवीन रूपांतर-सा जान पड़ता है। फिर भी वैष्णवधर्म का अवतारवाद उसके क्षेत्र को वहीं तक सीमित नहीं रहने देता और विष्णु के विविध अवतार उसे अधिक व्यापक बना देते हैं। कृष्ण, उसके कारण, विष्णु के एक अवतार-मात्र रह जाते हैं और उनकी गणना भी वामन, वाराह, नृसिंह, रामादि के साथ ही होने लगती है, तथा वैष्णवधर्म के विभिन्न अनुयायियों द्वारा उनकी उपासना, सब के समान, पृथक् आरंभ हो जाती है। उदाहरण के लिए वे विष्णु के एक अन्य अवतार वामन से भिन्न समझे जाने लगते हैं। वामन पहले, अपने त्रिविक्रम के वैदिक रूप में, तीन पगों द्वारा पृथ्वी से लेकर द्युलोक तक को माप देने वाले ही समझे जाते थे। 'शतपथब्राह्मण' (१।२।५) की रचना के समय तक उनका नाम विष्णु के नाम का एक पर्यायवाची शब्द बन गया[१] और कम से कम ईसा के पूर्व ७००-६०० ईस्वी तक उनके उस पद-चिह्न तक की पूजा आरंभ हो गई जो उनकी उक्त माप-क्रिया के आरंभ में पृथ्वीतल पर बन गया हुआ माना गया।[२] डा० जायसवाल का कहना है कि उक्त पद-चिह्न आज भी गया में 'विष्णुपद'

---

[१]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०' पृ० २९
[२]इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० ४७ (१९१८)

नाम से पूजा जाता है। वे यह भी अनुमान करते हैं कि विष्णु के साथ त्रिविक्रम (वामन) की अभिन्नता बौद्धायन सूत्रों (२।५।९।१०) की रचना के पहले ही पूर्ण हो चुकी थी। वामन की उपासना तामिल प्रांत के आळवारों में बहुत काल तक चलती रही और आज भी उसके अवशेष कई अन्य प्रांतों में उपलब्ध हैं, इसी प्रकार वाराहावतार भी, जिसके विषय में 'शतपथब्राह्मण' (१४।१।२।११) में कहा गया था कि "प्रजापति ने वाराह का रूप धारण कर पृथ्वी को समुद्र के नीचे से उद्धार किया था"[1] तामिल प्रांत के आळवारों के उपास्यदेव बन गए और काठियावाड़ प्रांत के कडवाह नामक तीर्थस्थान एवं कसरा में वे विष्णु के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवतार की भाँति पूजे जाने लगे।[2]

परंतु उक्त वामन वा वाराह कभी कृष्ण की महत्ता तक नहीं पहुँच सके और न नृसिंह वा परशुराम आदि के लिए ही ऐसा कहा जा सकता है। कृष्ण के समान महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय बन जाने वाले अन्य अवतार राम कहे जा सकते हैं। 'राम' नाम से बहुधा बलराम, दाशरथि राम, तथा भार्गव राम का बोध लगभग एक ही प्रकार का हुआ करता है। पाणिनि के सूत्र (२।२। ३४)पर अपना भाष्य लिखते समय पतंजलि ने इस बात का उल्लेख किया है कि "धनपति, राम तथा केशव के मंदिर में एकत्रित लोगों द्वारा बजाये जाने वाले वाद्ययंत्रों की ध्वनि सुन पड़ती है और वहां पर 'राम' से अभिप्राय बलराम का ही समझा जाता है।"[3] भार्गव राम की चर्चा, इसी प्रकार, कई ग्रंथों में परशुराम अथवा केवल 'राम' शब्द के ही द्वारा की गई मिलती है। दाशरथि राम से उनकी भिन्नता दिखलाने के ही लिए उनका नाम भार्गव राम बतलाया जाता है जैसा कि 'नारायणीय' में दी गई विष्णु के अवतारों की द्वितीय तालिका (३३९-७७-९०) से भी स्पष्ट जान पड़ता है। दाशरथि राम की गणना विष्णु के दशावतारों में कृष्ण से पहले की जाती

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ९६
[2]संकलियाः 'दि आर्कियालोजी अव् गुजरात', पृ० १५०-१
[3]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० १७-२

है और वहां पर भार्गव राम के अनंतर गिने जाने पर भी ये उनसे अधिक महान् दिखलाये जाते हैं। दाशरथि राम की यह एक विशेषता है कि उनके सामने उनके पूर्ववर्ती अवतार को भी नीचा देखना पड़ता है।[1]

वैदिक साहित्य में 'राम' नाम का प्रयोग विभिन्न व्यक्तियों के लिए किया गया दीख पड़ता है। 'ऋग्वेद' के एक स्थल पर यह शब्द किसी ऐश्वर्यशाली यजमान का नाम जान पड़ता है जो उसमें आए हुए प्रसंगों के आधार पर कोई प्रतापी राजा तक समझा जा सकता है।[2] इसी प्रकार 'ऐतरेयब्राह्मण' (७।२७।३४) तथा 'शतपथब्राह्मण' (४।६।१।७) में भी क्रमशः किसी राममार्गवेय तथा राम औपतस्विनि के उल्लेख मिलते हैं[3] जिनसे जान पड़ता है कि उनकी रचना के समय तक रामनामधारी व्यक्तियों का अभाव नहीं था। किंतु इन जैसे प्रसंगों के आधार पर ही यह अनुमान कर लेना कठिन है कि दाशरथि राम का इनमें से किसी के साथ संबंध था। 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर किसी दशरथ का भी उल्लेख मिलता है और उनकी प्रशंसा वहां एक दानशील राजा की भाँति की गई है।[4] फिर भी उससे यह नहीं लक्षित होता कि उनका कोई भी संबंध दाशरथि राम से था वा नहीं। दशरथ के अतिरिक्त इक्ष्वाकु का नाम भी वेदों में कम से कम दो स्थलों पर आया है, किंतु उनसे 'दाशरथि' राम वा दशरथ के प्रसिद्ध पूर्वज राजा इक्ष्वाकु की ओर कोई संकेत नहीं मिलता। पहले अर्थात् 'ऋग्वेद' में आए हुए 'इक्ष्वाकु' शब्द से किसी राजा का बोध होता है और दूसरे अर्थात् 'अथर्ववेद' वाले इस शब्द द्वारा सूचित होता है कि मंत्र की रचना के समय तक इस नाम के कोई पुरुष प्रसिद्ध हो चुके थे।[5] वास्तव में

---

[1]देखिए 'रामायण', १।७५।६

[2]प्रतद्दुः शीमे पृथवाने वेने प्ररामे वोचमसुरे मघवत्सु ।१०।९३।१४

[3]बुल्के : रामकथा, पृ० ५-६

[4]चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणि नयन्ति ।१।१२६।४

[5]यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते देवात् मराय्येधते । ऋग्वेद, १०।६०।४

त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं । अथर्ववेद, १९।३९।९

इन उक्त राम, दशरथ एवं इक्ष्वाकु शब्दों को एक साथ देखने से अधिक से अधिक केवल इतना ही प्रतीत होता है कि इन नामों के तीन राजा हुए होंगे, किंतु उनके पारस्परिक संबंध अथवा उनके कालानुसार आगे-पीछे उत्पन्न होने का कुछ पता नहीं चलता। 'ऋग्वेद' के अंतर्गत सीता का भी उल्लेख हुआ है और लांगल पद्धति के अर्थ में इस शब्द के प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक बार हुए हैं,[1] किंतु उनसे राम की स्त्री सूचित नहीं होती।

दाशरथि राम का स्पष्ट उल्लेख 'महाभारत' के कई स्थलों पर मिलता है और 'वाल्मीकीय रामायण' में उनकी कथा पूरे विवरण के साथ दी गई है तथा उस ग्रंथ के आधार पर लिखे गए अनेक ग्रंथ प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में मिलते हैं। यह बात असंदिग्ध रूप से नहीं कही जा सकती कि 'महाभारत' एवं 'रामायण' के प्राचीन और प्रामाणिक संस्करणों की राम-कथाएं एक-दूसरी पर कहां तक आश्रित हैं। क्योंकि, यह भी संभव है कि उन दोनों का मूलस्रोत कोई प्रचलित परंपरा ही रही हो। फिर भी इन दो प्रसिद्ध ग्रंथों की रामकथाओं में उतना अंतर नहीं लक्षित होता जितना बौद्ध जातकों एवं जैन पुराणों में आई हुई इस कथा के रूपांतरों में एक दूसरे के साथ तथा उन दोनों की इन दोनों से तुलना करते समय दीख पड़ता है। 'महा-भारत' एवं 'रामायण' में दी गई रामकथाओं का विश्लेषण कर और उनके विशिष्ट अंशों पर, वैदिक साहित्य में उपलब्ध कतिपय प्रसंगों की दृष्टि से विचार करके, डा० याकोबी ने यह अनुमान किया है कि दाशरथि राम वैदिक देवता इंद्र के एक अन्य रूप मात्र हैं और वस्तुतः इंद्र ही पश्चिमी भारत में बलराम तथा पूर्वी भारत में दाशरथि राम के दो भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित हो गए। गृह्य सूत्रों में 'पर्यन्यपत्नी' एवं 'इंद्रपत्नी' कही जाने-वाली 'सीता' को भी उन्होंने, इसी कारण, दशरथि राम की भार्या सीता से अभिन्न माना है।[2] उधर प्रचलित परंपराओं अथवा आख्यानों पर ही आश्रित बौद्ध जातकों के कुछ प्रसंगों द्वारा सूचित होता है कि बुद्ध राम के

---

[1]बुल्के : 'रामकथा', पृ० २८ [2]वही, पृ० १०४

पुनरावतार थे तथा जैनधर्म के पुराणों में भी रामकथा एवं राम का महत्त्व बहुत बड़ा करके दिखलाया गया है। अतएव, विष्णु का एक अवतार माने जाने के पहले से ही दशरथि राम भलींभाँति विख्यात हो चुके थे और उनकी 'रामकथा' भी लोकप्रिय हो चुकी थी।

फिर भी दाशरथि राम पहले उस प्रकार उपास्य नहीं बन सके थे जिस प्रकार वासुदेव-कृष्ण अवतार बनने के पूर्व से रह चुके थे। प्राचीन रामकथा के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी महत्ता विशेषकर इनके त्याग तथा मर्यादा-रक्षा एवं वीरता के गुणों पर निर्भर थी। इन्होंने कृष्ण की भाँति किन्हीं उच्च सिद्धांतों का कभी उपदेश नहीं दिया था और न उनका कभी प्रतिपादन वा प्रचार ही किया था। विष्णु के अन्य कई अवतारों की भाँति इन्होंने मानवों वा देवों के लिए वैसे महान् उपकार भी नहीं किए थे। इनके द्वारा किया गया रावणादि का वध भी प्राचीन कथा के अनुसार अधिकतर अपने स्वार्थवश किए गए कार्यों की ही कोटि में रक्खा जा सकता है। राम का, एक महान् पुरुष के अतिरिक्त, प्रतापी राजा के रूप में भी दीख पड़ने लगना एक विशेषता अवश्य थी जो कृष्ण में नहीं पाई जाती और न विष्णु के किसी अन्य अवतार में ही इस प्रकार लक्षित होती है। इसके सिवाय दाशरथि राम की सीता, उनकी सहधर्मिणी के रूप में, उस समय के कहीं पहले से दिखलाई देती हैं, जिस समय से कृष्ण की राधा अथवा अन्य पत्नियों की, कृष्णकथा के प्रसंगवश, उनके साथ चर्चा आरंभ की जाती है अथवा स्वयं विष्णु की लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। फलतः दाशरथि राम के महत्त्व की वृद्धि में रामकथा भी कम सहायता नहीं पहुँचाती और उन्हें क्रमशः एक आदर्श परिवार का केंद्र बनाती हुई उनके अवतारी रूप को भारतीय समाज के लिए अधिक आकर्षक और लोकप्रिय सिद्ध कर देती है। राम की उपासना, मुख्यतः इसीके कारण, कृष्णोपासना के प्राचीनतर होने पर भी, उसके समकक्ष प्रसिद्धि पा लेती है।

विष्णु के साथ वासुदेव-कृष्ण की अभिन्नता 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१०।१।६) की रचना के समय पूर्ण हो चुकी थी और 'नारायणीय' से पता चलता है कि उसकी रचना के समय तक वासुदेव उनके दस अवतारों

में गिने जाने लगे थे। यह समय ईसा की तृतीय शताब्दी (पूर्व) का समझा जाता है जब कि बौद्धधर्म का प्रचार बड़े वेग के साथ हो रहा था। बौद्ध-धर्म तथा भागवतधर्म इस बात में प्रायः एक ही मत के समर्थक थे कि वैदिक कर्मकांड का खुला विरोध होना चाहिए और उसके स्थान पर भक्तिमार्ग वा अन्य कुछ होना चाहिए। बौद्धधर्म ने उधर गौतम बुद्ध को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करके उनके विषय में 'जातकों' की रचना आरंभ की और उसी प्रकार इधर वैष्णवधर्म ने भी अपने ढंग से विष्णु के अवतारों की कल्पना करली। उस समय जिन मत्स्य, कूर्म एवं वाराह को ब्राह्मण-ग्रंथों में प्रजापति का अवतार समझा जाता था[1] उन्हें भी विष्णु का महत्त्व बढ़ जाने पर, इन्हींका अवतार माना जाने लगा। वामन तथा नृसिंह इनके अवतार, कदाचित् कुछ पहले से ही बन चुके थे। उक्त समय के लगभग उनमें कृष्ण, भार्गव राम, एवं दाशरथि राम की भी गणना होने लगी। कृष्ण के विष्णु का अवतार बन जाने पर एक महान् परविर्तन यह हुआ कि इन अवतारों की पूजा भी, किसी न किसी रूप में, आरंभ हो गई। अतएव, दाशरथि राम जो पहले की परंपराओं अथवा आख्यानों के अनुसार एक महान् व्यक्ति मात्र समझे जा रहे थे, विष्णु का अवतार होते ही एक आराध्य-देव के भी रूप में परिणत हो गए और उनके चरित्र-वर्णनों में क्रमशः बढ़ती जानेवाली अलौकिकता ने उन्हें उनमें एक अत्युच्च स्थान प्रदान कर दिया। पूजनीय रामावतार की भावना ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी तक अवश्य फैलने लगी होगी क्योंकि, उस काल के कुछ पहले से ही, लिखे जाने वाले बौद्धों के पालि-साहित्य में स्वयं बुद्ध को राम का एक अवतार मानने की कल्पना दीख पड़ने लगी थी। उसके लगभग अथवा उसके कुछ ही अनंतर रचे जानेवाले प्राचीन पुराणों द्वारा इसका प्रचार स्पष्ट रूप में होने लगा। दाशरथि राम उस समय न केवल विष्णु का अवतार थे, अपितु बौद्धधर्म में एक बोधिसत्व थे तथा जैनधर्म में आठवें बलदेव भी माने जाते थे।[2]

---

[1]शतपथब्राह्मण, १।८।१।१, ७।५।१।५ तथा १४।१।२।११
[2]बुल्के : रामकथा, पृ० १४६

वाल्मीकि 'रामायण' के संबंध में अनुसंधान करनेवाले विद्वानों की धारणा है कि उसका मूलरूप कोई 'आदि-रामायण' था जिसमें 'बालकांड' तथा 'उत्तरकांड' सम्मिलित नहीं थे और जिसमें राम के अवतार होने की संभावना का भी अभाव था। उस 'रामायण' का द्वितीय रूप भी संभवतः उपर्युक्त समय के ही लगभग प्रस्तुत किया गया। परंतु इसमें तथा उक्त प्राचीन पुराणों में भी 'रामभक्ति' जैसी किसी भावना की स्पष्ट चर्चा की गई नहीं मिलती और न इन ग्रंथों में आए हुए कोई पात्र ही वैसे रामभक्त दीख पड़ते हैं। डा० भांडारकर का तो यहां तक अनुमान है कि इसका वास्तविक प्रचार ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ।[1] फिर भी इतना निश्चय है कि दक्षिण भारत में, कम से कम तामिल प्रांत के आळवारों के समय, रामभक्ति का अस्तित्व अवश्य रहा होगा। इन आळवारों में से त्रावंकोर के कुलशेखर आळवार की दाशरथि राम के प्रति विशेष निष्ठा थी। उनके विषय में तो यहां तक कहा जाता है कि 'रामायण' का पाठ सुनते समय एक बार, एकाकी रामचंद्र द्वारा खरदूषण आदि अनेक राक्षसों का सामना करने का प्रसंग आ जाने पर, उन्होंने आवेश में अपनी त्रावंकोर की सेना को उनकी सहायता करने के लिए कूच करने की आज्ञा दे दी और उनके मंत्रियों को यह विकट स्थिति, अंत में, बड़ी कठिनाई के साथ सँभालनी पड़ी। एक दूसरी बार भी, इसी प्रकार, लंका में हरी जाकर पहुँचा दी गई सीता को रावण से छीन लाने के उद्देश्य से वे सहसा समुद्र की ओर दौड़ पड़े थे और उसे तैर कर पार करने के प्रयत्न से वे किसी भाँति रोके गए।[2] कुलशेखर आळवार का समय ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझा जाता है और उनकी रचनाओं का पाँचवां अंश रामावतार से संबंध रखता है, जिसमें इष्टदेव राम के प्रति अत्यंत कोमल एवं गंभीर भक्ति प्रदर्शित की गई है।[3]

---

[1]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ४७

[2]हूपर : 'हिम्स अव् दि आळवार्स', पृ० १२-१३

[3]'जर्नल अव् दि श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टिटयूट', तिरुपति, भा० ३ (१९४२), पृ० १६६

परंतु रामोपासना का अधिक प्रचार वस्तुतः ईस्वी सन की १२वीं शताब्दी के पीछे होता है। इस शताब्दी से स्वामी रामानुजाचार्य के भी संप्रदाय का संगठित प्रचार आरंभ होता है और क्रमशः रामभक्ति एवं रामोपासना-संबंधी संहिताओं तथा उपनिषदों की रचना होने लगती है। स्वामी रामानुजाचार्य द्वारा स्वयं प्रचलित किए गए मत में राम को कोई विशेष स्थान उपलब्ध नहीं था। वे विष्णु के ही उपासक थे। किंतु स्वामी रामानंद के समय तक रामोपासना का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया और इस विषय का धार्मिक साहित्य भी बन गया। रामभक्ति के साहित्य में 'अध्यात्मरामायण' को एक बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है जो स्वामी रामानंद के 'रामावत संप्रदाय' की ही रचना जान पड़ती है और कुछ लोगों ने तो उसे स्वामी रामानंद द्वारा लिखे जाने का भी अनुमान किया है। स्वामी रामानंद के समय अर्थात् ईस्वी सन् की १४ वीं शताब्दी से रामभक्ति का भाव बड़े वेग के साथ फैलने लगा। उस समय से राम विष्णु के केवल एक अंशावतार मात्र ही नहीं रह गए अपितु परब्रह्म के पूर्णावतार तक समझे जाने लगे। 'रामायण', "हरिवंश", 'विष्णुपुराण', 'वायुपुराण' आदि के अनुसार राम, भरत आदि चारों भाई विष्णु के एक एक चतुर्थांश से समन्वित हैं। भक्ति-भाव के पल्लवित होने के पश्चात् राम परब्रह्म के पूर्णावतार माने जाने लगे और लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न क्रमशः शेष, शंख तथा सुदर्शन के अवतार।"[1] इस प्रकार का रामावतार-विषयक विकास 'अध्यात्मरामायण' की रचना के समय तक लक्षित होने लगता है। 'अध्यात्मरामायण' की रचना के समय तक दाशरथि राम की मूलकथा भी भक्ति-भाव से बहुत अधिक प्रभावित हो गई दीख पड़ती है। उदाहरण के लिए जो राम 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार शरभंग के आश्रम में जाकर सीता एवं लक्ष्मण के साथ उस मुनि का चरण स्पर्श करते हैं[2] उन्हें ही 'अध्यात्मरामायण' के शरभंग एक दैवी अतिथि के रूप में देखते हैं, सहसा उठ खड़े हो जाते हैं तथा आगे बढ़कर उनकी भलीभाँति पूजा करते हैं। वे अपने चिता पर चढ़कर उनसे यहां तक

---

[1]बुल्के : रामकथा, पृ० ४२३-४ [2]अरण्यकांड, ५।२६

प्रार्थना करते हैं कि "मेरे हृदय में सदा अयोध्यापति राम विराजमान रहें।"[1] केवल शरभंग का ही ऐसा वर्ताव नहीं है। 'वाल्मीकि रामायण' के अगस्त्य मुनि के भी चरण राम उसी प्रकार स्पर्श करते हैं।[2] किंतु 'अध्यात्मरामायण' के राम का स्वागत कर उसके अगस्त्य मुनि उनकी पूजा सम्यक् प्रकार से और 'वहुविस्तरम्' अर्थात् अनेक विधियों के साथ करते दीख पड़ते हैं तथा एक 'विस्तृत' स्तुति करने के अनंतर वे उनसे प्रार्थना करते हैं कि मेरे हृदय में आपकी भक्ति सदा बनी रहे और मुझे आपके भक्तों का सत्संग प्राप्त हो।[3] इसी प्रकार इधर के राम-साहित्य में दाशरथि राम के पूर्ण शत्रु रावणादि राक्षसों तक का हृदय से रामभक्त होना प्रदर्शित किया गया है जैसा गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से सिद्ध हो जायगा। दाशरथि राम की पूर्व-प्रचलित 'रामकथा' रामभक्ति का प्रभाव पाकर एक विचित्र ढंग से परिवर्तित हो गई। उसका प्राचीन स्वरूप राम के अवतार बन जाने पर पहले से ही बदलता जा रहा था। भक्तिभाव ने उसकी कायापलट कर दी।

---

[1]अध्यात्मरामायण, ३।२।२ तथा १०   [2]अरण्य कांड, १२।२४

[3]अध्यात्मरामायण, ३।१६ तथा ४१

७. सांप्रदायिक संगठन–(१)

गुप्त-साम्राज्य के युग में वैष्णवधर्म, अपने महत्त्व एवं प्रचार की दृष्टि से स्वर्णयुग में प्रवेश कर गया। उस समय तक इसका स्वरूप निश्चित हो चुका था तथा क्रमशः व्यूहवाद और अवतारवाद की भावनाओं द्वारा इसे पूर्ण प्रतिष्ठा भी मिल चुकी थी। गुप्त सम्राटों के प्रभुत्व में वृद्धि आने के साथ-साथ इस धर्म की उन्नति अधिक वेग से होने लगी। उस समय यह राजकीय धर्म के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया और उसके सम्राटों ने इसके प्रचारार्थ अनेक प्रकार के प्रयत्न किए। उदाहरण के लिए उन्होंने न केवल स्वयं अपने को 'भागवत' के नाम से घोषित किया अपितु इस धर्म का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने इसके कई विशेष चिह्नों को अपनी राजकीय मुद्राओं पर भी स्थान दिया। सर्वप्रथम उन्होंने विष्णु के वाहन गरुड़ को अपने स्तंभों पर स्थान दिया था, अब उसे अपने सिक्कों पर भी अंकित कराया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिक्कों के पृष्ठभाग पर विष्णु की पत्नी लक्ष्मी को स्थान दिया और ध्वज पर 'विष्णुचक्र' की स्थापना की। चंद्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' ने 'परमभागवत' की उपाधि धारण कर ली थी और चाँदी एवं ताँबे के सिक्कों पर भी गरुड़ की आकृति खुदवाई थी जो उसकी मुद्राओं के पृष्ठभाग पर दीख पड़ती है। इस विक्रमादित्य के समय का सबसे सुंदर सिक्का वह समझा जाता है जो भरतपुर राज्य के 'बयाना ढेर' में प्राप्त हुआ है और जो 'चक्रविक्रम' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके "ऊपरी भाग में भगवान् विष्णु (तीन प्रभामंडलयुक्त) चंद्रगुप्त को त्रैलोक्य भेंट कर रहे हैं। वह अद्वितीय सिक्का तत्कालीन भावना का जीता-जागता नमूना है जिसके मुद्रा द्वारा वैष्णवधर्म के प्रचार की बात सिद्ध होती

है।"[1] गुप्त सम्राटों के प्रभाव से, इसविषय में, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, एवं बंगाल आदि के नरेश तक नहीं बच सके। मध्यकालीन गहड़वाल, चंदेल तथा कलचुरी नरेशों ने गुप्त सिक्कों के अनुकरण में अपने यहां लक्ष्मी को प्रमुख स्थान दिया और यह बात गांगेयदेव जैसे चेदिराजों के सिक्कों में बड़े स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। सुल्तान मुहम्मद बिन साम ने तो मुस्लिम धर्मावलंबी होने पर भी, कन्नौज-विजय के उपरांत, गहड़वाल मुद्रा के अनुकरण में, लक्ष्मी की आकृति को अपनाया था। इस प्रकार ईसा की चौथी से बारहवीं शताब्दी तक आठ सौ वर्ष के उपलब्ध सिक्के वैष्णवधर्म के तत्कालीन प्रभाव को प्रमाणित करते हैं।

परंतु इस काल के अंतिम चरण के लगभग दक्षिण भारत में एक अन्य ऐसी बात भी आरंभ हो गई जो इस धर्म के प्रचार में उपर्युक्त प्रयत्नों से भी अधिक सहायक सिद्ध हुई और जिसकी एक परंपरा सी ही चल पड़ी। गुप्त-साम्राज्य का अंत होने के अनंतर वैष्णवधर्म के प्रसार एवं प्रचार में कुछ ह्रास के चिह्न लक्षित होने लगे थे। फिर धीरे-धीरे इसके द्वारा प्रभावित क्षेत्रों का विस्तार दक्षिण भारत की ओर अधिक दीख पड़ने लगा और वहां के आचार्यों द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन तक आरंभ हो गया। ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी के संभवतः प्रारंभिक दिनों के ही लगभग प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य ने अपना 'शारीरकभाष्य' लिखा और उसमें अन्य अनेक मतों की आलोचना के साथ-साथ इस धर्म का भी मूल्यांकन इसे 'पांचरात्र' कहकर किया। स्वामी शंकराचार्य की धारणा के अनुसार भागवतों का यह मत वैदिक सिद्धांतों के ठीक अनुकूल सिद्ध नहीं होता और कुछ अंशों तक अपूर्ण भी कहा जा सकता है। अतएव, इस प्रकार की आलोचना उस समय के वैष्णवधर्मानुयायियों को स्वभावतः खटकने लगी और उसके अनंतर आनेवाले वैष्णवाचार्यों ने इसकी प्रत्यालोचना में वैष्णवधर्म के वास्तविक रूप का स्पष्टीकरण आरंभ कर दिया। फलतः जिस प्रस्थान-

---

[1] **वासुदेव उपाध्याय : 'भारतीय सिक्कों में वैष्णव-परंपरा', 'संगम' (इलाहाबाद, ११ जुलाई, १९४८)**

त्रयी (अर्थात् शारीरकसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता एवं उपनिषद्) पर भाष्यों की रचना कर स्वामी शंकराचार्य ने अपने सिद्धांत स्थिर किए थे, उस पर इन वैष्णवाचार्यों ने भी अपने-अपने पृथक् भाष्यों की रचना कर डाली। इस प्रकार की गई विभिन्न दार्शनिक व्याख्याओं द्वारा न केवल वैष्णव-भक्ति का स्वरूप वेदांतपरक बन गया अपितु उसमें भिन्न-भिन्न संप्रदायों की भी सृष्टि हो गई।

'धर्म', 'संप्रदाय', 'मत' एवं 'पंथ' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके प्रयोग बहुधा पर्यायों के रूप में हो जाया करते हैं। वैष्णवधर्म को इसी कारण, अधिकतर 'वैष्णवसंप्रदाय' के भी नाम से अभिहित किया जाता है। 'धर्म' शब्द का अर्थ वास्तव में, बहुत व्यापक है और वह किसी वस्तु वा व्यक्ति की नैसर्गिक वृत्ति से लेकर विधिपूर्वक अनुष्ठित कर्मों तथा आचारों तक का बोधक है। परंतु परंपरा के अनुसार इसका प्रयोग ईश्वर, परलोक आदि विषयक किसी प्रचलित प्रणाली-विशेष के लिए भी किया जाता है जिसके आधार पर हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, ईसाईधर्म जैसे शब्दों का व्यवहार हुआ करता है। इस प्रकार के धर्म, किसी प्रवर्त्तक के नाम के साथ जुड़े होने पर भी, अपने महत्त्व, प्रचार एवं प्राचीनतादि के कारण एक प्रकार के व्यापक नियमों की ओर ही संकेत करते हैं। यही बात उन अन्य धर्मों के विषय में भी कही जा सकती है जो किसी इष्टदेव के नाम के साथ रहा करते हैं। यों तो किसी-किसी धर्म, जैसे बौद्धधर्म अथवा ईसाईधर्म, में उनके प्रवर्त्तकों ने ही इष्टदेव का रूप ग्रहण कर लिया है। 'संप्रदाय' शब्द का अर्थ उतना व्यापक नहीं है। यह उक्त प्रकार की प्रणालियों में से केवल उन्हींको व्यक्त करता है जो, किसी मूलधर्म के अंतर्गत प्रचलित रहती हुई भी, अपनी परंपरा-विशेष के महत्त्वानुसार भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित की जाती हैं, जैसे, एक ही हिंदूधर्म के भीतर शैव-संप्रदाय, शाक्त-संप्रदाय आदि कहने की प्रथा है और इस विचार से वैष्णवधर्म को भी हम 'वैष्णव-संप्रदाय' के नाम से पुकार सकते हैं। इसके नाम 'वैष्णवधर्म' की सार्थकता इसके अंतर्गत प्रचलित श्री-संप्रदाय, रुद्र-संप्रदाय, सनक-संप्रदाय आदि के विचार से ही सिद्ध की जा सकती है। 'मत' शब्द का प्रयोग, इसी प्रकार, प्रायः

किसी व्यक्ति, वर्ग वा संप्रदाय द्वारा प्रतिपादित और स्वीकृत सिद्धांतों की दृष्टि से किया जाता है, जैसे श्री-संप्रदाय का विशिष्टाद्वैतमत, रुद्र-संप्रदाय का शुद्धाद्वैतमत आदि और यह किसी विचारधारा विशेष का बोध कराता है। इसके विपरीत 'पंथ' अधिकतर उस साधना-मार्ग की ओर संकेत करता है जिसकी ओर उसके प्रवर्त्तक व्यक्ति ने कभी निर्देश किया हो, पंथों का वर्गीकरण, इसी कारण, उनके नामों के साथ ही हुआ करता है जैसे कबीर-पंथ, नानक-पंथ इत्यादि।

'पंथ' शब्द का उक्त प्रयोग बहुत कुछ आधुनिक जान पड़ता है, जहाँ 'मत' शब्द का प्रयोग उससे कहीं प्राचीन है। 'महाभारत' के 'शांतिपर्व' में एक स्थल पर[१] आया है कि भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर से अपने समय में प्रचलित पाँच 'ज्ञानों' की चर्चा की थी और उन्हें 'मत' शब्द द्वारा भी अभिहित किया था। यह बात यहां पर विशेष-रूप से उल्लेखनीय है कि उन पाँच मतों वा 'ज्ञानों' में उन्होंने 'पांचरात्र' की भी गणना की थी जो 'एकांतिक धर्म' वा 'भागवतधर्म' के रूप में वैष्णवधर्म ही था। फिर भी प्रचलित वैदिकधर्म से भिन्न मार्ग ग्रहण करने के कारण, यह अपने प्रारंभिक काल में, अपने प्रवर्त्तक वासुदेव-कृष्ण के नामानुसार प्रसिद्ध रहा और काल पाकर क्रमशः विकसित होता हुआ एक विशिष्ट संप्रदाय के रूप में परिवर्त्तित हो गया। इसका अंतिम सांप्रदायिक रूप 'पांचरात्र' ही था जिसे 'महाभारत' में 'मत' नाम दिया गया था और उसे ही स्वामी शंकराचार्य ने अपने 'शारीरक भाष्य' में अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया था। 'वैष्णवधर्म' का विशाल रूप ग्रहण कर लेने पर जब इसके सिद्धांतों की समीक्षा आरंभ हो गई तो विभिन्न आचार्यों की तर्कपद्धति ने स्वयं इसके अंतर्गत विविध संप्रदायों को जन्म दिया और इसके सुव्यवस्थित प्रचार के लिए एक नवीन साधन मिल गया। दक्षिण-भारत में यह धर्म उस समय तक भलीभाँति प्रचलित हो चुका था और इसके तत्रस्थ अनुयायियों का इसके

---

[१]साङ्ख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै ॥ शांतिपर्व, अ० ३४९



गोवर्द्धनधारी कृष्ण

[लगभग छठी शती : मथुरा]



प्रति विशेष आकर्षण भी था। अतएव, इसके गंभीर विवेचन का कार्य भी स्वभावतः वहीं आरंभ हुआ और इसके समर्थन एवं प्रचार में सर्वप्रथम, श्री-संप्रदाय अग्रसर हुआ जिसके सबसे बड़े प्रवर्त्तक स्वामी रामानुजाचार्य माने जाते हैं।

भागवतधर्म 'नानाघाट शिलालेख' के समय अर्थात् ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी तक ही नासिक के आसपास पर्यंत दक्षिण दिशा की ओर बढ़ गया था। कृष्णा ज़िले के द्वितीय शताब्दी ईस्वी वाले 'चाइना शिलालेख' से पता चलता है कि यह उसके और भी दक्षिण की ओर फैलता जा रहा था तथा समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली प्रशस्ति के लिखे जाने तक, अर्थात् चौथी शताब्दी के मध्यभाग के पहले ही, यह उस ओर की सीमा तक पहुँच गया।[१] उस समय के ही लगभग उस प्रदेश में प्रसिद्ध आळवार नामक भक्तों का भी प्रादुर्भाव हुआ जो अपने गीतों वा भजनों द्वारा भागवतधर्म का प्रचार विशेष-रूप से करने लगे। ये आळवार भक्त संख्या में बारह थे और इनका प्रारंभिक समय कुछ विद्वानों ने ईसा की तीसरी शताब्दी तथा अंतिम काल उसकी नवीं शताब्दी तक माना है[२] और अनुमान किया है कि ये लोग संभवतः तीन श्रेणियों में विभक्त किए जाते रहे हैं। इनकी प्रथम वा प्राचीन श्रेणी में प्वायगाइ, भूत्ततारा, पे तथा तिरुमल्लाइ के नाम लिए जाते हैं जिन्हें संस्कृत भाषा के अनुसार, क्रमशः सरोयोगिन्, भूतयोगिन्, महद्योगिन तथा भक्तिसार भी कहा जाता है। इनमें से प्रथम तीन के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने, एक ही साथ ईश्वर का दर्शन करके, अपने हर्षातिरेक का प्रकाशन तामिल भाषा के सौ-सौ गीतों द्वारा किया था। ये आळवार भक्त नारायण को अपना सबसे बड़ा देवता समझते हैं। विष्णु के प्रथम अवतारों और विशेषकर त्रिविक्रम (वामन) की चर्चा करते हैं और कृष्णावतार की प्रशंसा करते तथा उसकी कतिपय लीलाओं का गान

---

[१]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० १०८

[२]कृष्णस्वामी ऐयंगर : 'अर्ली हिस्ट्री अव् वैष्णविज़्म इन साउथ इंडिया', पृ० ८९

करते हैं। जान पड़ता है कि ये लोग श्रीरंगम् तिरुपति जैसे तीर्थों में जाकर वहां की मूर्तियों की पूजा किया करते थे और उन्हींके ध्यान, नामस्मरण एवं आराधना में अपने समय का अधिकांश व्यतीत किया करते थे। तिरु-मल्लाइ अथवा भक्तिसार नामक आळवार इन तीनों के कुछ काल पीछे हुए थे और उन्होंने भी प्रायः उपर्युक्त विषयों पर ही दो सौ पद्यों की रचना की थी।[1]

मध्यवर्ती आळवारों में नम्म अथवा शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरी वा विष्णुचित्त एवं आंडाल वा गोदा के नाम आते हैं। इनमें शठकोप सर्वप्रसिद्ध थे और ये परंपरानुसार सर्वश्रेष्ठ भी गिने जाते हैं। इनकी रचना का नाम 'तिरूवाय मोली' है जिसका शाब्दिक अर्थ मुख से अपने आप निकले हुए वाक्य हैं। ये पांड्य राजाओं के समय में हुए थे और इन्होंने तिनेवली के निकट कुरुकइ नगर में रहकर बड़ी सुंदर तामिल भाषा की एक सहस्र से भी अधिक कविताओं की रचना की थी। इनका जन्म किसानों के वल्लाल-वंश में हुआ था और ये कदाचित् अविवाहित ही रहकर केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था में मर गए थे।[2] इनकी रचनाओं में ईश्वर के प्रति प्रकट किए गए प्रेम एवं भक्ति के गंभीर भाव भरे पड़े हैं और उनमें यत्रतत्र प्राकृतिक सौंदर्य के अनुपम दृश्य भी दिखलाई पड़ते हैं, जिनसे ये एक उच्चकोटि के भक्तकवि सिद्ध होते हैं। मधुर कवि इन्हींके शिष्य थे और अपने गुरु के सच्चे उपासक भी थे। उनकी रचनाएं भी कम सुंदर नहीं कही जातीं। उस काल के कुलशेखर आळवार प्राचीन त्रावंकोर राज्य के एक नरेश थे जिनके प्रमुख उपास्यदेव दाशरथि राम थे। इसी प्रकार पेरी आळवार अथवा विष्णुचित्त परिया जाति में उत्पन्न हुए थे और उनकी रचनाओं का संग्रह बहुत बड़ा समझा जाता है। आंडाल वा गोदा आळवार इन्हींकी पुत्री थीं।[3] ये अपने इष्टदेव की, पतिरूप में, आराधना करती थीं और अपनी मधुर

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० १०९

[2]'नम्मलवार' (जी० ए० नटेसन, मद्रास), पृ० २६-७

[3]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ११०-१

प्रेमभरी रचनाओं के कारण दक्षिण भारत की 'मीरांबाई' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। अंतिम आळवारों में से प्रथम दो अर्थात् रोंडर डिप्पोडी वा भक्तांघ्रिरेणु तथा तिरुप्पन वा योगिवाहन के विषय में वहुत कम ज्ञात है। तिरुमंगई अथवा परकाल आळवार ने उपर्युक्त सभी आळवारों से अधिक पद्यों की रचना की थी। ये बारहवें आळवार थे, किंतु इनके जीवनकाल के संबंध में अभी तक मतभेद पाया जाता है। इन बारहों आळवारों की रचना-संख्या चार सहस्र की बतलाई जाती है और उसके संग्रह का नाम 'प्रबंधम्' कहा जाता है।

'प्रबंधम्' आळवारों के प्रेम एवं भक्ति-संबंधी गीतों के साथ-साथ उनकी अनेक धार्मिक उक्तियों का भी संग्रह है। उसे, उसके महत्त्व एवं पवित्रता के कारण 'वैष्णववेद' भी कहा करते हैं और उसमें संगृहीत पद्यों का पाठ विशेष धार्मिक उत्सवों पर बड़ी श्रद्धा के साथ किया जाता है। आळवारों की मूर्तियां दक्षिण-भारत के अनेक मंदिरों में देवमूर्तियों के साथ स्थापित की गई पाई जाती हैं और उनका विधिवत् पूजन होता है। इन आळवार भक्तों की रचनाओं के संग्रह उक्त 'प्रबंधम्' का संपादन वैष्णवधर्म के आचार्यों द्वारा किया गया। पहले उसके केवल मूलपाठ पढ़े जाते थे, किंतु पीछे उन पर लिखे गए प्रमुख भाष्यों का भी पाठ होने लगा। 'प्रबंधम्' का पाठ करने वाले 'अडैयार' कहलाते थे जो उसका उच्चारण, मंडप के समक्ष खड़े होकर एक निश्चित ढंग से किया करते थे।[१] आळवारों की मूल विचारधारा पर किसी प्रकार की सांप्रदायिकता का रंग नहीं चढ़ा था और उनकी उपासना बहुत-कुछ स्वाभाविक जान पड़ती थी। किंतु जिन आचार्यों ने उनके प्रबंधों को विशेष महत्त्व दिया उनके विषय में भी यह बात नहीं कही जा सकती। वे आळवारों के भक्तिरस द्वारा प्रभावित अवश्य थे, किंतु उनमें अपने पांडित्य का भी बल था। वे स्वामी शंकराचार्य द्वारा उठाए गए उपर्युक्त प्रश्नों का पूरा समाधान कर देना भी अपना कर्तव्य समझा करते थे। अतएव, आळवारों द्वारा अपनाए गए मार्ग का अनुसरण करते

---

[१]जे० एस० हूपर : 'हिम्स अव् दि आळवार्स'।

हुए उन्होंने वैष्णवधर्म के आधारभूत दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन भी किया। इस प्रकार एक ऐसी विचार-पद्धति की नींव डाल दी जिसके अनुसरण में भिन्न-भिन्न संप्रदायों की सृष्टि होने लगी।

श्री-संप्रदाय

उक्त प्रकार के आचार्यों में सर्वप्रथम नाम रघुनाथाचार्य वा नाथमुनि का आता है जो ईसा की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा उसकी दसवीं के प्रारंभ-काल में त्रिचिनापल्ली के निकट श्रीरंगम् में वर्त्तमान थे। उनका मूल निवासस्थान वीरनारायणपुर था। उनके पूर्वपुरुष कदाचित् उत्तरी भारत के किसी प्रदेश से आए थे तथा भागवतधर्मावलंबी रह चुके थे। नाथ मुनि शठकोप आळवार की रचनाओं के बहुत बड़े प्रेमी थे। उन्होंने ही, कदाचित् सर्वप्रथम् उनके तथा अन्य आळवारों के भी प्रचलित पद्यों की खोज कर उन्हें क्रमानुसार प्रायः एक-एक सहस्रवाले चार भागों में संपादित किया। ये ही चार भाग उक्त 'प्रबंधम्' के मूलरूप को प्रकट करते थे। इन्हीं पर पीछे भाष्यों की भी रचना होने लगी। नाथमुनि ने 'न्यायतत्त्व' नामक एक संस्कृत पुस्तक भी लिखी थी और अपने पुत्र एवं पुत्रवधू के साथ उत्तरी भारत की तीर्थयात्रा की थी। मथुरा में यमुना नदी का स्नान कर वे इतने प्रसन्न हुए थे कि उसके उपलक्ष्य में उन्होंने अपने पौत्र का नाम 'यामुन' रख दिया। नाथमुनि के उपरांत पुंडरीकाक्ष एवं राममिश्र नामक दो अन्य आचार्य भी हुए जिन्होंने उनके मूल-सिद्धांतों का प्रचार किया। ये लोग क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय आचार्य कहे जाते हैं और इनमें से राममिश्र ने 'यामुन' को आध्यात्मिक शिक्षा देकर यामुनाचार्य बनाया।[1]

यामुनाचार्य चौथे आचार्य हुए जिनकी विशेष प्रसिद्धि उनके द्वारा आगे प्रचलित होनेवाले श्री-संप्रदाय की नींव डालने तथा उसके उन सिद्धांतों को सर्वप्रथम स्पष्ट करने की चेष्टा करने के कारण है जो इस समय विशिष्टाद्वैतमत से संबंध रखते हैं। इनका जन्म सन् ९१६ ई० के लगभग वीर-

---

[1]रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ११२-३

नारायणपुर में हुआ था और इनकी मृत्यु लगभग सन् १०४० में हुई थी। यामुनाचार्य पहले अपनी विद्वत्ता एवं शास्त्रार्थपटुता के लिए प्रसिद्ध हुए। उन्होंने चोलवंशी महाराज के दर्बारी कवि को पराजित किया जिसके उपलक्ष में उन्हें राज्य की ओर से एक भूमि-खंड का दान मिला। महारानी ने उन्हें 'आलवंदार' अर्थात् विजयी की उपाधि से विभूषित किया। वे अपना जीवन पूरे ऐश्वर्य के साथ व्यतीत कर रहे थे। एक दिन आचार्य राममिश्र ने उन्हें उनके पितामह नाथमुनि का कोष दिखलाने के बहाने श्रीरंगम् के मंदिर में भगवान् की मूर्ति का दर्शन कराया और तब से उनमें एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। वे अबसे श्रीरंगम् में रहकर प्राचीन भागवत, पांचरात्र वा सात्वतधर्म के ही एक सुधरे रूप विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का विवेचन करने लगे। उन्होंने वहीं पर अपने ग्रंथ 'सिद्धित्रय' की रचना की। उसके द्वारा स्वामी शंकराचार्य के मायावाद का खंडन कर एक अन्य ग्रंथ 'आगमप्रामाण्य' द्वारा भागवतधर्म का प्रतिपादन किया तथा 'गीतार्थसंग्रह' में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भक्तिपरक सारांश दे दिया।[1] उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे अपने मतानुसार ब्रह्मसूत्रों पर भी कोई भाष्य लिखें। किंतु ऐसा न हो सका और इस कार्य को उनके अनंतर तथा उन्हींके संकेतानुसार उनके उत्तराधिकारी प्रसिद्ध स्वामी रामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य द्वारा संपन्न किया।

श्रीरामानुजाचार्य का जन्म सन् १०१६ वा १०१७ ई० में हुआ था और उनका बचपन कांचीपुर वा कांजीवरम् में बीता था। पहले-पहल उन्हें किसी यादवप्रकाश नामक अद्वैतवादी आचार्य से शिक्षा मिली थी। किंतु कुछ ही दिनों में वे मतभेद के कारण अपने उक्त गुरु से अलग हो गए और आळवारों के 'प्रबंधम्' का उन्होंने बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन किया। अंत में यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बनकर वे श्रीरंगम् में रहने लगे जहां से उन्होंने अपने अन्य कार्य किए। उस समय के चोलवंशी महाराज ने उन्हें वैष्णवधर्म का परित्याग कर शैवमत स्वीकार करने के लिए विवश करना

---

[1] रायचौधुरी : 'अ० हि० वै०', पृ० ११४

चाहा। किंतु वे वहां से हटकर मैसूर के हयसाल-वंशी राजाओं की राजधानी द्वारसमुद्र चले गए और सन् १०९८ ई० में वहां के राजपुरुष विट्ठलदेव को वैष्णव बनाकर उनका नाम उन्होंने विष्णुवर्द्धन प्रचलित किया। उन्होंने नाथमुनि की भाँति उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थस्थानों की यात्रा भी की थी। श्री रामानुजाचार्य के 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदांतदीप' और 'ब्रह्मसूत्र' एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर लिखे भाष्य प्रसिद्ध हैं।[1] 'वेदांतसार' में उन्होंने 'ब्रह्मसूत्रों' को सरल टिप्पणियों के साथ संपादित किया है और 'वेदांतदीप' द्वारा उन्हें और भी विवृत्त एवं स्पष्ट कर दिया है। परंतु इस विषय का पूर्ण विवेचन और प्रतिपादन उनके 'श्रीभाष्य' में ही मिलता है। श्री रामानुजाचार्य ने अपना 'गीताभाष्य' भी बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखा है जिस पर श्री वेदांतदेशिक नामक एक अन्य आचार्य ने 'तात्पर्य-चंद्रिका' नाम की टीका पीछे से जोड़ दी है।[2] श्री रामानुजाचार्य के पश्चात् श्री-संप्रदाय के प्रमुख आचार्यों में श्री वेदांतदेशिक (सन् १२६८–१३६९ ई०) तथा मनवल महामुनि (सन् १३७०–१४४३ ई०) भी प्रसिद्ध हैं जिन्होंने वैष्णवधर्म के स्पष्टीकरण और प्रचार में बड़ी तत्परता दिखलाई।

उपर्युक्त वैष्णवाचार्यों के समय तक जैन, बौद्ध, आदि धर्मों का प्रचार बहुत अधिक बढ़ गया था। इस कारण वैदिक धर्म के अनुयायी उसके सिद्धांतों पर की गई आलोचनाओं के खंडन द्वारा उसे नवीन ढंग से प्रतिपादित करने में लगे थे। अवैदिक प्रमाणों एवं युक्तियों के इस प्रकार किए जानेवाले निराकरण में न्याय तथा मीमांसा के आचार्यों का विशेष हाथ था। परंतु मीमांसक लोग अपने कर्मकांड का महत्त्व दर्शाते समय उपनिषदों के आधार पर अपने सिद्धांत निर्धारित करनेवाले वेदांती संप्रदायों पर भी आक्षेप करने लगते थे जिस कारण इनके महत्त्वहीन दीख पड़ने का भय था। गौड़पादाचार्य तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य स्वामी शंकराचार्य ने इसीलिए औपनिषदों की ओर से उक्त स्थिति को अपने मतानुसार सँभा-

---

[1]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ७२-३

[2]राजगोपालाचारियर : 'वैष्णवाइट रिफ़ार्मर्स अव् इंडिया', पृ० ५२

लना चाहा। इनके मत का सारांश यह था कि परमात्मा वा ब्रह्म ही एक-मात्र सत्य है और जीवात्मा एवं परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। इसके सिवाय उनका यह भी कहना था कि जो कुछ विभिन्नता प्राकृतिक वस्तुओं के रूप में अनुभूत होती है वह सभी मिथ्या है। इसका कारण वे माया अथवा अविद्या को बतलाते थे और प्रत्यक्षतः किसी भक्ति वा प्रेम को स्थान नहीं देते थे। एकता वा अद्वैतता का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ही, उनके अनुसार, मुक्ति संभव है जो वैष्णवाचार्यों को युक्तिसंगत एवं शास्त्रसम्मत नहीं प्रतीत होता। इन्होंने अपने सिद्धांतों द्वारा यह प्रतिपादित किया कि जीवात्मा और जगत् ये दोनों वस्तुतः परमात्मा के गुण विशेष हैं। इनके द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का रूप विशिष्ट बन जाता है जिसे उपलब्ध कर शाश्वत सुख की अभिलाषा रखनेवाले मुमुक्षुओं को चाहिए कि कोरे ज्ञानमात्र से इनकी प्राप्ति असंभव समझकर विधिपूर्वक भक्ति करने का अभ्यास डालें। श्री रामानुजाचार्य ने इस भक्ति की आवश्यक विधियों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया और उनमें से प्रत्येक का महत्त्व भी बतलाया।

आळवारों के 'प्रबंधम्' में हृदयपक्ष की प्रबलता दीख पड़ती है और वे अर्द्धशिक्षित किंतु शुद्धहृदय एवं निष्कपट भक्त जान पड़ते हैं। किंतु वैष्णवाचार्यों की रचनाओं में मस्तिष्क पक्ष भी कम प्रौढ़ नहीं है। वे अपने शास्त्रीय ज्ञान के बलपर मीमांसकों के कोरे कर्मकांड का खंडन अद्वैतवादियों के समान ही किया करते थे। किंतु उनके ज्ञानकांड की अपेक्षा उन्हें अपना भक्तियोग प्रिय था। वेदांत के ग्रंथों का तात्पर्य ये इसी धारणा के अनुसार निर्धारित करते थे और भक्ति का निरूपण भी किया करते थे। स्वामी शंकराचार्य द्वारा प्रचारित स्मार्तधर्म की एक से अधिक देवों की पूजन-प्रणाली का परित्याग कर इन्होंने एकमात्र विष्णु की आराधना स्वीकार की और इसके लिए, तीनों वर्गों के अतिरिक्त इन्होंने शूद्रों एवं अन्य जातियों को भी अधिकारी माना। शूद्रों वा अन्य योग्यताहीन जातियों के लिए आचार्यों ने विशेष कर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दी थी जिसका मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान् की शरण में समर्पित कर उन्हींकी दया पर भरोसा करना है। परंतु कालांतर में इस प्रपत्ति का अर्थ दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लगाया

जाने लगा जिस कारण इस विषय पर दो भिन्न-भिन्न मत हो गए। श्री वेदांतदेशिक और उनके अनुयायियों की सम्मति में 'प्रपत्ति' अन्य साधनों की ही भाँति एक मार्ग-विशेष है जिसका अवलंबन ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि के न हो सकने पर लिया जाता है। किंतु मनवल महामुनि और उनके पक्षवालों का कहना है कि 'प्रपत्ति' को केवल एक मार्गमात्र ही न समझकर उसे ही सब-कुछ मान लेना चाहिए और उसीके अनुसार अपनी मनोवृत्ति भी बना लेनी चाहिए। पहले मतवाले वा 'वाड़कड़ाई', भक्त और भगवान् के संबंध को बंदरी के पेट में चिपके हुए बच्चे तथा उस बंदरी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं जहां दूसरे वा 'टेनकड़ाई' इसी बात को यों कहना चाहते हैं कि भक्त को भगवान् के भरोसे बिल्ली की इच्छा पर निर्भर रहनेवाले उसके बच्चे की भाँति रहना चाहिए और अपने लिए स्वयं थोड़ा भी प्रयास नहीं करना चाहिए।[1] इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि 'वाड़कड़ाई' (उत्तरज्ञानी) के अनुसार जहां भक्त ईश्वर की शरण में आकर प्रपन्न हो जाता है वहां टेनकड़ाई (दक्षिण-ज्ञानी) के अनुसार उसे ईश्वर स्वयं अपनी शरण में ले लेता है। इसके सिवाय प्रथम मतवालों का कहना है कि वैष्णवों को शूद्रादि के साथ केवल बातचीत में ही समान भाव रखना चाहिए, जहां द्वितीय मतवाले उनके साथ सभी प्रकार से समान भाव रखना चाहते हैं और ये लोग उन्हें 'ॐ नमो नारायणाय' का मंत्रोपदेश देते समय प्रथम मतवालों की भाँति 'ॐ' के उच्चारण का परित्याग नहीं करते अपितु पूरा मंत्र पढ़ा करते हैं।[2]

इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य के मत का सारांश यों दिया जा सकता है[3]—उनके तात्त्विक सिद्धांत का मूलाधार गीता, उपनिषद्, न्यायशास्त्र एवं ब्रह्मसूत्र हैं और वे सृष्टि की उत्पत्ति पौराणिक सांख्य के अनुसार मानते हैं। विष्णुपूजन की विधि अधिकतर पांचरात्र संहिता का अनुसरण करती

---

[1]भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ७८-९
[2]शास्त्री : 'वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृ० १८१
[3]राजगोपालाचारियर : 'वै० रि०', पृ० १४१

हैं और उनकी भक्ति का मूलस्रोत गीता, पातंजल योग तथा आळवारों की परंपरा में निहित है। उनकी उपासना में स्नेह भी अंतर्भूत है। इस संप्रदाय में चारों वर्णों का समावेश है, किंतु ब्राह्मणों की संख्या अधिक पाई जाती है। अंत्यजों को सिद्धांतानुसार एक समान मानते हुए भी इसके अनुयायी भोजन-संबंधी बातों में स्पर्शास्पर्श का विचार किया करते हैं और उनके मंदिर-प्रवेश अथवा मूर्ति-दर्शन के लिए विशेष दिन नियत हैं। इस संप्रदाय का साहित्य भी विशाल है और इसके दक्षिण भारत के प्रधान मंदिरों में श्रीरंगम्, वेंकटाचल, कांची आदि के मंदिरों की गणना की जाती है। कुछ लोगों ने इस संप्रदाय को 'श्री-संप्रदाय' एवं 'श्रीवैष्णव-संप्रदाय' नामक दो वर्गों में विभाजित किया है जिनमें से दूसरे का विशेष प्रचार उत्तरी भारत के प्रांतों में कहा जाता है।

८. सांप्रदायिक संगठन—(२)

सनक-संप्रदाय

श्री-संप्रदाय वा विशिष्टाद्वैत-मार्ग, इस प्रकार, वस्तुतः पुराने भागवत वा पांचरात्रधर्म का ही एक समयानुसार विकसित रूपांतर-मात्र था जो तत्कालीन परिस्थिति के कारण एक सांप्रदायिक रूप में संगठित हो गया। उसने अपने पक्ष का सफलतापूर्वक समर्थन किया और अपने विपक्षी शांकराद्वैतवादियों का घोर विरोध किया। इस विरोध-कार्य में उन दिनों जिन अन्य संप्रदायों ने उसका साथ अपने अपने ढंग से दिया उनमें निंबार्क, मध्व एवं विष्णुस्वामी के संप्रदाय प्रधान थे। स्वामी निंबार्काचार्य का जन्म संभवतः बेलारी ज़िले के निंबापुर नामक नगर में सन् १११४ ई० के लगभग हुआ था। वे तैलंग ब्राह्मण थ। वे अधिकतर मथुरा के निकटवर्ती तीर्थ वृंदावन में रहा करते थे और वहीं पर उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदांतपारिजात-सौरभ' नामक भाष्य तथा 'दशश्लोकी' ग्रंथ की रचना की और उनके द्वारा अपने द्वैताद्वैतमत का प्रतिपादन किया। निंबार्काचार्य के शिष्य श्री-निवास ने 'वेदांतपारिजातसौरभ' पर अपना भाष्य लिखा और उनके शिष्य पुरुषोत्तमाचार्य के 'दशश्लोकी' पर 'वेदांतरत्नमंजूषा' नाम की टीका लिखी तथा उनके सिवाय पीछे के आचार्यों ने भी कुछ ग्रंथों की रचना की। निंबार्काचार्य का ग्रंथ 'दशश्लोकी' वस्तुतः उनके मूल सिद्धांतों का सारग्रंथ है। जिसमें प्रायः सभी विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

निंबार्काचार्य का मत "जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में यह है कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं तथापि जीव एवं जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है—स्वतंत्र नहीं है—और परमेश्वर में

ही जीव और जगत् के सूक्ष्मतत्त्व रहते हैं।"[1] भक्ति की परिभाषा बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह निष्कामतापूर्वक की जानेवाली सेवा से अभिन्न है और वह दो प्रकार की होती है, एक साधनरूप है और दूसरी सिद्धिस्वरूप। साधनरूप भक्ति अनेक जन्मों के पुण्य से उत्पन्न होती है और वह वैदिक और पौराणिक रूप से दो प्रकार की हुआ करती है। 'मधुविद्या', 'शांडिल्यविद्या' जैसी वैदिक अनुष्ठानों की भक्ति वैदिक कही जाती है और उस पर तीन उच्चवर्णों का अधिकार है, जहां पौराणिक भक्ति केवल भगवदाराधना से संबंध रखती है और उस पर शूद्रों का भी अधिकार है। फलस्वरूप भक्ति तथा पराभक्ति उसे कहते हैं जो भगवत्कृपा से आत्मज्ञानपूर्वक उत्पन्न होती है और वह प्रेमलक्षणा भी हुआ करती है। निंबार्काचार्य के संप्रदायानुसार प्रपत्ति वा शरणागति छः प्रकार की होती है। इसकी साधनारूपिणी भक्ति श्री-संप्रदाय के भक्तियोग से मिलती-जुलती है। किंतु रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति जहां ध्यानयोग पर अधिक अवलंबित रहने के कारण वस्तुतः औपनिषदिक उपासना में परिणत हो जाती है वहां निंबार्काचार्य की साधना अपने मूलभाव का परित्याग नहीं करती। वह रामानुजीय 'टेनकड़ाई' संप्रदाय की भक्ति का एक रूपांतर-मात्र है। परंतु इन दोनों में भी उपास्यदेव की कल्पना के विषय में महान् अंतर दीख पड़ता है। श्री-संप्रदायवाले नारायण एवं लक्ष्मी को मानते हैं। परंतु निंबार्काचार्य के 'सनक-संप्रदाय' वालों के सर्वस्व कृष्ण और राधा हैं।

निंबार्काचार्य के सनक-संप्रदाय का प्रचार जितना उत्तरी भारत में हुआ उतना दक्षिण में न हो सका। इसके प्रधान प्रचारक्षेत्र मथुरा के आस-पास के स्थान तथा बंगाल प्रांत रहे। निंबार्काचार्य की मृत्यु सन् ११६२ ई० में हुई थी।[2] उनके अनुयायियों में, सन् १५०० ई० के लगभग, कुछ भेद दीख पड़ने लगा और 'गृहस्थ' एवं 'त्यागी' नामक उनके दो वर्ग हो गए।

---

[1] तिलक : 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' (हिंदी संस्करण) पृ० १७

[2] भांडारकर : 'वै० शै०', पृ० ८८ (पादटिप्पणी)

'गृहस्थ' वर्ग की परंपरा को प्रचलित करनेवाले केशव काश्मीरी कहे जाते हैं, जहां 'त्यागी' वर्ग के आचार्य हरिव्यास माने जाते हैं। संप्रदाय का मुख्य मंदिर मथुरा के निकट ध्रुवक्षेत्र में विद्यमान है और एक अन्य प्रसिद्ध मंदिर अजमेर के दक्षिण सलीमाबाद में है। इस संप्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य हरिदास स्वामी ने अपना 'टट्टी-संप्रदाय', नामक एक उपसंप्रदाय स्थापित किया था। वे एक विख्यात संगीतज्ञ थे और सम्राट् अकबर के आश्रित प्रसिद्ध गवैये तानसेन के गुरु थे। निंबार्काचार्य के सनक-संप्रदाय के विषय में यह भी कहा जाता है कि वह उनके पहले से ही चला आ रहा था। उन्होंने इसे एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया। कुछ लोग इन्हें प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य से अभिन्न मानते हैं और कहते हैं कि अपनी वृद्धावस्था में उन्होंने यह मत चलाया था।[१] उनके अन्य नामों में नियमानंद, निंबादित्य एवं भास्कराचार्य भी प्रसिद्ध हैं। संप्रदाय के अनुयायी 'निमावत' भी कहलाते हैं। वे लोग अपने ललाटों पर गोपीचंदन के दो ऊर्ध्वतिलक धारण करते हैं और उनके बीच में काले रंग का एक 'टीका' भी लगा लेते हैं। उनकी कंठी एवं जयमाला तुलसी की हुआ करती है और 'श्रीमद्भागवत' पर उनकी विशेष श्रद्धा रहती है। स्वामी रामानुजाचार्य के संप्रदायवाले अपनी नासिका की जड़ से लेकर केशपर्यंत गोपीचंदन का खड़ा तिलक धारण करते हैं और उसके बीच में एक पीली वा लाल रेखा अंकित कर लेते हैं और इसके सिवाय, वे अपने द्वादशांग (अर्थात् ललाट, कंठ, दोनों बाहु, दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि, शिरोमध्य, पीठ एवं दोनों कर्ण-मूल) पर शंख-चक्र किंवा रामनाम भी अंकित किया करते हैं। निंबार्काचार्य के संप्रदायवाले बहुधा भजनानंदी भी हुआ करते हैं और कीर्तन को भी बहुत महत्त्व देते हैं।

ब्रह्म-संप्रदाय

स्वामी शंकराचार्य के सिद्धांतों के विरोध में खड़े होनेवाले संप्रदायों में माध्व-संप्रदाय को भी एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक

---

[१]शिवशंकर मिश्र : 'भारत का धार्मिक इतिहास', पृ० २३४-५

मध्वाचार्य थे जिनका एक अन्य नाम आनंदतीर्थ था। उनका जन्म भी दक्षिण भारत के ही उड़ीपी नामक नगर के निकट सन् ११९७ ई० में हुआ था और उनके बचपन का नाम वासुदेव था। उन्होंने वेद-वेदांगों की शिक्षा ग्रहणकर 'पूर्णप्रज्ञ' के नाम से संन्यास लिया और सर्वप्रथम दक्षिण-भारत की और फिर उत्तरी भारत की भी यात्रा की। वे वदरिकाश्रम तक जाकर वहां से दिग्विजयी राम तथा वेदव्यास की मूतिया प्राप्त कर लाए। उन्होंने और भी कई यात्राएं की और अंत में उड़ीपी में ही रहकर अपने स्थिर किए गए सिद्धांतों के आधार पर ग्रंथ रचना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने अपने समय की प्रथा के अनुसार पहले प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों पर भाष्य लिखे और फिर कुल मिलाकर सैंतीस ग्रंथ रच डाले। कहते हैं कि संन्यास की दीक्षा लेते समय इन्होंने किसी शांकराद्वैतवादी को गुरु स्वीकार किया था जिस कारण ये आनंदतीर्थ कहे गए थे। किंतु विचार करने पर उन्हें न तो अद्वैतवाद ठीक जान पड़ा और न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत पसंद आया। उन्होंने दोनों मतों का खंडन कर एक तीसरे अर्थात् द्वैतवाद का प्रतिपादन और प्रचार किया। उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग का मूलाधार 'पंचभेद' अथवा परमात्मा, आत्मा एवं प्रकृति के पारस्परिक भेदों के पाँच प्रकार हैं। इस 'पंचभेद' पर आश्रित रहकर वे विशिष्टाद्वैत को भी अपूर्ण ठहराते हैं और कहते हैं कि परब्रह्म एवं जीव को कुछ अंशों म भिन्न तथा अन्य अंशों में एक मानना परस्पर-विरुद्ध और असंगत बात है जिस कारण दोनों को सदैव भिन्न-भिन्न ही समझना चाहिए। दोनों में पूर्ण रीति से क्या अपूर्ण ढंग से भी किसी प्रकार की एकता का होना असंभव है। मध्वाचार्य के अनुसार 'प्रस्थानत्रयी' अर्थात् 'ब्रह्मसूत्र' 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा प्रमुख उपनिषदों में द्वैतमत का ही प्रतिपादन है। वे 'हरि' वा 'भगवान्' की प्राप्ति को अपने प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा अनुभव की बात मानते हैं और इसके साधन-स्वरूप शम, दम, शरणागति, वैराग्य आदि अष्टादश प्रकार की साधनाओं का वर्णन करते हैं। "उनके मत में व्यूह, वासुदेव, आदि को स्थान नहीं है और न उनके उपास्यदेव विष्णु एवं उनके राम तथा कृष्ण नामक अवतार हैं। इस मत में, श्री-संप्रदाय की ही भाँति, गोपाल-कृष्ण एवं गोपियों

का भी अभाव-सा है। इस प्रकार इस मत ने भागवत वा पांचरात्रधर्म को बहुत कुछ महत्त्वहीन बना दिया ।"[1]

मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित उपर्युक्त मत को ब्रह्म-संप्रदाय एवं स्वतंत्रा-स्वतंत्रवाद भी कहते हैं । इसके आदि आचार्य ब्रह्मा कहलाते हैं यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । सांख्यमत भी द्वैतवाद है, किंतु इस मत से कुछ भिन्न है । सांख्यमत के द्वैतवाद में दो भिन्न-भिन्न पदार्थ, पुरुष एवं प्रकृति हैं, जो दोनों ही नित्य एवं सत्य हैं । मध्वाचार्य के द्वैतवाद में तत्त्व वा पदार्थ दो प्रकार का है, जिन्हें क्रमशः स्वतंत्र और अस्वतंत्र कह सकते हैं । विष्णु स्वतंत्र हैं, जीव एवं जड़ जगत् अस्वतंत्र पदार्थ हैं । ब्रह्म एवं जीव में सेव्य-सेवक भाव है जिस कारण दोनों कभी अभिन्न नहीं कहला सकते । इस प्रकार यह मत शंकराद्वैतवाद के नितांत विपरीत पड़ता है और मध्वाचार्य ने उसका विरोध भी कुछ अधिक तीव्र भाषा द्वारा किया है । इस दृष्टि से रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद अथवा निंबार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद, उस मत की कई बातें किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हुए-से प्रतीत होते हैं और निंबार्काचार्य के खंडन-मंडन की भाषा तक में वैसा ओज नहीं । कुछ विद्वानों का कहना है कि भक्तिवाद के विचार से माध्वमत ही सर्वथा तर्कपूर्ण और सुसंगत है । विशिष्टाद्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद शांकराद्वैतवाद द्वारा बहुत अंशों में प्रभावित हैं और उनकी अद्वैत-संबंधी स्वीकृति किंचिन्मात्र भी होने पर, उनके कम से कम सेव्यसेवक-भाव के लिए पूर्णतः उपयुक्त होने में, बाधा उपस्थित कर देती है ।

मध्वाचार्य के अनुसार उपासना दो प्रकार से की जा सकती है । इनमें से एक को शास्त्राभ्यास और दूसरे को ध्यान कहा जाता है । बहुत-से साधक केवल निरंतर शास्त्रानुशीलन द्वारा अपरोक्षज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जहां दूसरे भगवान की अखंडस्मृति में लीन रह कर मुक्त होते हैं । शास्त्रविचार के कारण अज्ञान एवं संशयादि का नाश हो जाता है और

---

[1]**भांडारकर : 'वै०, शै०', पृ० ८७**

वस्तुतत्त्व का परिचय मिल जाता है। परंतु ज्ञान परमात्माधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के अनंतर 'परमभक्ति' का प्रादुर्भाव होता है जो स्वयं साध्य-रूप है। यह एक प्रकार का प्रेमप्रवाह है जो साक्षात्कार होने पर आपसे आप उत्पन्न हो जाता है और जो पूर्णज्ञानपूर्वक होने के कारण, किसी भी प्रकार की बाधा के पड़ने पर रुक नहीं सकता। विष्णु के गुणोत्कर्ष का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है जो भगवान के 'प्रसाद' पर निर्भर है। अतएव, मोक्ष 'प्रसाद' बिना संभव नहीं।

मध्वाचार्य का देहांत हो जाने के अनंतर उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य महाध्यक्ष हुए और फिर क्रमशः और भी लोग होते गए। उनके अनुयायी विशेषकर कर्नाटक तथा मैसूर के प्रांतों में दीख पड़ते हैं और कुछ वृंदावन आदि उत्तरी भारत के स्थानों में भी पाए जाते हैं। कर्नाटक प्रांत में इस मत के कम से कम आठ मठ बहुत प्रसिद्ध हैं। उडीपी में मध्वाचार्य द्वारा स्थापित एक कृष्ण की मूर्ति है जिसके लिए प्रसिद्ध है कि वह किसी समय द्वारका से मलाबार की ओर नौका द्वारा जाते समय, समुद्र में डूब गई थी, किंतु जिसे दिव्यज्ञान से जानकर मध्वाचार्य ने निकलवाया था। कृष्णमूर्ति का मंदिर इस मत के अनुयायियों द्वारा सर्वप्रधान समझा जाता है। उपर्युक्त आठ मठों के अधिकारी उसकी अध्यक्षता क्रमशः दो-दो वर्षों के लिए ग्रहण करते हैं। संप्रदाय के दीक्षागुरु केवल ब्राह्मण वा संन्यासी ही हो सकते हैं जिनके कुछ पैतृक शिष्य भी हुआ करते हैं और जिन्हें अपना गुरुत्व-पद बेंचने का भी अधिकार है।[1] मध्वाचार्य के अनुयायी नाक के ऊपर गोपीचंदन की दो सीधी रेखाएं खींचते हैं और नारायण निवेदित गंधद्रव्य के भस्म की एक काली रेखा उनके बीच में बनाकर, उसके शिरोभाग पर हरिद्रा की गोल बिंदी भी करते हैं। ये लोग अपनी उपासना के अंतर्गत 'अंकन', 'नामकरण' और 'भजन' को भी स्थान देते हैं जिनमें से प्रथम का अर्थ विष्णु के शंख, चक्रादि के चिह्नों को शरीर पर अंकित करना, द्वितीय का अर्थ अपनी संतानों के विष्णु पर्यायवाची नामों

---

[1]शिवशंकर मिश्र : 'भा० धा० इ०', पृ० २३१

का रखना तथा तृतीय का अर्थ कायिक वाचिक एवं मानसिक भजनों का अनुष्ठान करना होता है। इस संप्रदाय की एक विशेषता इस बात में देखी जाती है कि इसके अनुयायी शैवसंप्रदाय वालों के साथ समानभाव रक्खा करते हैं।

विष्णुस्वामी-संप्रदाय

विष्णुस्वामी वास्तव में रामानुजाचार्य, निंबार्क एवं मध्वाचार्य-इन तीनों से पहले ईसा की १०वीं शताब्दी में हुए थे।[1] परंतु उनके संबंध में विद्वानों का मतभेद लक्षित होता है और अंतिम निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। इतना अवश्य है कि जो जो धारणाएं इस विषय में आजतक प्रचलित रही हैं उनमें से प्रायः प्रत्येक को अब संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। इस प्रकार का अनुमान करना अब निराधार नहीं कहा जा सकता कि अधिकांश लेखकों का मत अभी सत्य से दूर है। विष्णुस्वामी-संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या बहुत कम पाई जाती है और जो कुछ सामग्री उनके यहां उपलब्ध है अथवा जो अन्य संप्रदायों के भी ग्रंथादि में दीख पड़ती है वह भी पूर्णतः भ्रांति-रहित नहीं सिद्ध होती। पुराण जैसे ग्रंथों में भी जहां कहीं उनकी चर्चा आती है वह हमें किसी अंतिम निश्चय पर पहुँचने में सहायक नहीं होती। डा० फ़र्कुहर ने इस संप्रदाय के दो मठों की चर्चा की है जिनमें से एक कांकरोली में है और दूसरा कामबन में कहा गया है[2] किंतु इन दोनों का भी पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है। फिर भी विष्णुस्वामी अथवा उनके संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण होने में संदेह नहीं किया जा सकता। उनके पीछे आनेवाले कई व्यक्तियों और

---

[1]बड़ोदा ओरियंटल कांफ़रेंस की रिपोर्ट, पृ० ४५१-२

[2]फ़र्कुहर : 'ऐन आउट लाइन अव् दि रेलिजस लिटरेचर अव् इंडिया', पृ० ३०४



(शेषशायी विष्णु (नारायण)

[मध्ययुगीन : त्रिवेंद्रम्]



संप्रदायों को उनका न्यूनाधिक आभारी होना स्वीकार किया जाता है और उन्हें प्राचीन वैष्णवाचार्यों में गिना जाता है।[1]

डा० भांडारकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' में बतलाया है कि वल्लभाचार्य का वेदांतमत विष्णुस्वामी के ही मत का अनुसरण करता है और उन्होंने श्रीनिवास-रचित 'सकलाचार्यमतसंग्रह' के आधार पर इसकी पुष्टि भी की है।[2] परंतु उन्होंने यह नहीं सूचित किया है कि उनके उक्त प्रमाणस्वरूप ग्रंथ को ही हम किस प्रकार प्रामाणिक मान लें। स्व० डाक्टर महोदय ने अपने उक्त कथन को स्पष्ट करते समय 'वृहदारण्यक उपनिषद्' (१।४।३) एवं 'मुण्डकोपनिषद्' (२।१) के सिवाय विष्णुस्वामी की किसी रचना को उद्धृत नहीं किया है और न उसका इस संबंध में नाम भी लिया है। डा० भांडारकर ने इसी प्रकार नाभाजी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' के आधार पर विष्णुस्वामी को ज्ञानदेव का गुरु होना कहकर उनके समय का १३वीं शताब्दी में[3] होना अनुमान किया है। परंतु यह बात कई उदाहरणों द्वारा सिद्ध की जा सकती है कि नाभादास के कथन अधिकतर अनुश्रुतियों पर ही आश्रित हैं और वे सर्वथा विश्वसनीय नहीं समझे जा सकते और न इसी कारण उनके आधार पर कोई अंतिम निर्णय करना कभी उचित कहा जा सकता है। इसके सिवाय ज्ञानदेव ने जो अपनी गुरु-परंपरा स्वयं लिखी है वह नाथ-संप्रदाय से संबंध रखती है और उसमें विष्णुस्वामी के विषय में किसी प्रकार की चर्चा की गई नहीं पाई जाती और न उनके मत में ही कोई ऐसी बात दीखती है जो इनके मत के साथ

---

[1]आसन् सिद्धान्तकर्त्तारश्चत्त्वारो वैष्णवा द्विजाः।
यैरयं पृथिवीमध्ये भक्तिमार्गो दृढ़ीकृतः॥
विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु, तुर्यो रामानुजः स्मृतः॥
वैष्णव धर्मनो इतिहास, पृ० २३५ पर उद्धृत

[2]भांडारकर : 'वै० शै०,' पृ० ११० [3]वही, पृ० १०९-१०

विशेषतः मिलती हो। विष्णुस्वामी को वल्लभाचार्य के ही मत का पूर्ववर्ती आचार्य मानने के संबंध में स्वयं वल्लभ-संप्रदायियों में भी मतभेद जान पड़ता है। 'संप्रदायप्रदीप' के रचयिता गदाधर जैसे पुष्टिमार्ग के अनुयायी उक्त दोनों आचार्यों के संबंध को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, जहां गोपालदास जैसे वल्लभाचार्य के चरित-लेखक इस बात की कोई चर्चा तक नहीं करते।[१] पता चलता है कि वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट, संभवतः, विष्णुस्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे, इस कारण, पुत्र का अपने पिता के मत का अपनी पूर्वावस्था में अनुवर्ती हो जाना और फिर पीछे अपना निजी मत निश्चित कर लेना असंभव न था।[२]

विष्णुस्वामी के लिखे कई ग्रंथों के नाम गिनाए जाते हैं और फ़र्कुहर को ऐसी कई रचनाओं के नाम प्राप्त हुए थे। किंतु अभी तक उनकी लिखी पुस्तकों में से केवल 'सर्वज्ञसूक्त' ही एक ऐसी रचना जान पड़ती है जो प्रमाणस्वरूप भी मानी गई है। श्रीधर ने अपनी टीकाओं में इस ग्रंथ का उल्लेख इस प्रकार किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हींकी रचना होगी। श्रीधरी टीका के ही आधार पर हमें विष्णुस्वामी के वास्तविक मत का भी कुछ आभास मिलता है और कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। विष्णुस्वामी के 'ईश्वर' 'सच्चिदानंद'-स्वरूप हैं और वे अपनी 'ह्लादिनी संविद्' के द्वारा 'आश्लिष्ट' हैं तथा 'माया' ईश्वर के आधीन है।[३] विष्णुस्वामी के इस ईश्वर को ही सत्, चित्, नित्य, निजाचिंत्य एवं पूर्णानंदमय विग्रहधारी नृसिंह भी कहा गया है।[४] विष्णुस्वामी के इष्टदेव इस प्रकार, नृसिंहावतार

---

[१]जगदीश गुप्त : 'विष्णुस्वामी संप्रदाय और वल्लभाचार्य', 'हिंदी अनुशीलन, ३-४, प्रयाग) पृ० २३

[२]शास्त्री : 'वै० सं० इ०', पृ० २४२

[३]ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः । तथा, स ईशो यद्वशे माया, इत्यादि । (उद्धृत) 'हिंदी अनुशीलन', पृ० २१

[४]सश्चिन्नित्यनिजाचिन्त्य पूर्णानन्दैकविग्रहम् ।

भगवान् जान पड़ते हैं। उनकी गोपालोपासना, संभवतः कुछ पीछे आरंभ हुई थी जैसा कि गोविंदलाल भट्ट नामक एक विद्वान् ने इस संबंध में अनुमान किया है।[1] गुजराती विद्वान् दुर्गाशंकर शास्त्री का कहना है कि विष्णुस्वामी के मत में नृसिंह तथा गोपाल दोनों की ही उपासना प्रचलित थी।[2] नृसिंह भगवान् की उपासना गोपालोपासना के साथ-साथ शंकर मत के कतिपय पीठों में भी लक्षित होती है जिसके आधार पर इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि विष्णुस्वामी पहले शांकराद्वैतवादी भी रह चुके थे।[3] जीव को विष्णुस्वामी ने 'स्याविद्यासंवृत' अर्थात् अपनी अविद्या द्वारा आच्छादित वा घिरा हुआ तथा 'संक्लेशनिकराकर' अर्थात् क्लेशों का घर-स्वरूप माना है।[4] वह स्वयं आनंद प्राप्त करने का अधिकारी है और आपही दुःख भी भोगा करता है। अतएव, ईश्वर एवं जीव में परस्पर भेद है, और विष्णुस्वामी भी मध्वाचार्य की भाँति द्वैतवादी ही सिद्ध होते हैं। अमरनाथ राय ने उन्हें, इसी कारण, मध्वाचार्य के गुरु विद्यातीर्थ के रूप में स्वीकार करते हुए 'नृसिंहपूर्णतापनी उपनिषद्' का टीकाकार और 'प्रपंचसार' का रचयिता माना है।[5] परंतु इसके लिए अभी कुछ और प्रमाणों का उपलब्ध किया जाना आवश्यक जान पड़ता है।

कुछ लोगों का अनुमान है कि विष्णुस्वामी का प्रादुर्भाव ईसा की तीसरी शताब्दी में हुआ था।[6] उनके पिता के विषय में कहा जाता है कि वे किसी द्रविड़ राजा के मंत्री थे और वे चाहते थे कि मेरा पुत्र भी मेरे ही

नृपश्चास्यमहं वन्दे श्रीविष्णुस्वामिसंमतम्॥ (उद्धृत)
'हिं० अ०' पृ० २१

[1] वही, पृ० १८
[2] 'वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृ० २३८
[3] 'हिंदी अनुशीलन' पृ० १९-२०
[4] स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः। (उद्धृत) वही।
[5] 'हिंदी अनुशीलन', पृ० १७
[6] मिश्र: 'भा० धा० इ०', पृ० २०६

समान व्यवहार-दक्ष हो। किंतु विष्णुस्वामी शास्त्राध्ययन के कारण, धार्मिक-प्रवृत्ति-संपन्न हो गए और उन्होंने प्रचलित कायाकष्ट की साधना को निरर्थक मानकर विष्णु के नामस्मरण का प्रचार किया। विष्णुस्वामी के अनंतर उनकी शिष्य-परंपरा में कई आचार्य हुए जिनमें से विल्वमंगल एवं श्रीधर स्वामी बहुत प्रसिद्ध हैं। विल्वमंगल का मूल नाम पुष्टनंनम्बूरी था किंतु वे अपने उपनाम विल्वमंगलदास द्वारा ही विख्यात हो गए।[1] उनकी रचना 'कृष्णकर्णामृत' वैष्णव-साहित्य के महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय ग्रंथों में गिनी जाती है। प्रसिद्ध है कि विल्वमंगल को शंकराचार्य के किसी शिष्य ने पराजित कर अपने अद्वैत मत का प्रचार किया था और दोनों के शास्त्रार्थ का समय ८०९ ई० दिया जाता है।[2] उसके अनुसार विष्णुस्वामी का समय भी उसके पहले पड़ता जान पड़ता है। श्रीधर स्वामी ने 'श्रीमद्भागवत' पर अपनी 'भावार्थदीपिका' नाम की टीका लिखी है जो 'श्रीधरीटीका' कहलाकर प्रसिद्ध है। श्रीधर स्वामी का जन्मस्थान उत्तरी उत्कल प्रांत बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उनके वंशज इस समय भी बालासोर जिले में वर्त्तमान हैं।[3] फिर भी विष्णुस्वामी-संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या इस समय बहुत अधिक नहीं जान पड़ती और यह एक प्रकार से लुप्त-सा हो गया है। उत्कल प्रांत में इस समय संप्रदाय का प्रचार ईसा की ११ वीं शताब्दी से होने लगा था और श्रीधर स्वामी संभवतः उसकी १३ वीं के लगभग हुए थे।

विष्णुस्वामी के व्यक्तित्व, उनके समय, उनके मत एवं संप्रदाय के विषय में अधिक मतभेद देखकर कभी-कभी एक से अधिक विष्णुस्वामियों की भी कल्पना की जाती है। किंतु उनमें से किसी का भी प्रामाणिक वृत्तांत नहीं दिया जाता। स्व० रामदास गौड़ ने लिखा है कि अनुश्रुति के अनुसार तीन विष्णुस्वामी नामक आचार्यों की चर्चा की जाती है। इनमें से प्रथम

---

[1]प्रभात मुखर्जी : 'मिडीवल वैष्णविज़्म इन ओड़ीसा', पृ० ६९
[2]मिश्र : 'भा० धा० इ०', पृ० २०६
[3]प्रभात मुखर्जी : 'मि० वै० ओ०', पृ० ३८-९

विष्णुस्वामी दक्षिण-भारत के पांड्य विजय राज्य के राजगुरु देवेश्वर के पुत्र थे और वे ही सर्वप्रथम वेदांत भाष्यकार थे। उन्होंने ही वेदांतसूत्रों पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक भाष्य लिखा था और उनका पूर्वनाम देवतनु था। इन्हें वे 'आदि विष्णुस्वामी' कहते हैं। दूसरे विष्णुस्वामी का वे ईसा की आठवीं शताब्दी में होना बतलाते हैं और कहते है कि इन्होंने कांची में श्रीवरदराज की और श्रीराजगोपालदेव की स्थापना की थी और द्वारकापुरी के रणछोड़ जी भी इन्हींके द्वारा स्थापित किए गए थे। ये विष्णु-स्वामी भी दक्षिणी ही थे और प्रसिद्ध 'श्रीकृष्णकर्णामृत' के रचयिता लीलाशुक विल्वमंगल इन्हींके शिष्य थे। तीसरे विष्णुस्वामी को वे आंध्रदेश-निवासी बतलाते हैं और कहते हैं कि इन्हींकी शिष्य-परंपरा में लक्ष्मण भट्ट हुए थे।[१] विष्णुस्वामी की समस्या, वास्तव में अभी तक अंतिम रूप में हल नहीं हो पाई है। एकाधिक विष्णुस्वामियों के आविर्भाव का यह सुझाव कदाचित् उसी ओर किया गया एक प्रयत्न है जिसकी सफलता के लिए प्रचुर प्रमाण अपेक्षित हैं। विष्णुस्वामी के विषय में अभी तक निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे एक प्राचीन वैष्णवाचार्य थे। उनके मत की कतिपय विशेषताएं थीं जिनके आधार पर उनका एक पृथक् संप्रदाय प्रचलित था जो अब लुप्तप्राय है। उनकी विचारधारा एवं साधना-पद्धति का प्रभाव अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों तथा संप्रदायों पर भी देखा जा सकता है।

---

[१]गौड़ : 'हिंदुत्व', पृ० ६७४-५

९. सांप्रदायिक संगठन—(३)

रुद्र-संप्रदाय या पुष्टिमार्ग

रामानुजादि चार प्राचीन वैष्णवाचार्यों ने अपने समय में प्रचलित शांकराद्वैतवाद के विरोध में अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया था और उनके प्रचारार्थ सांप्रदायिक संगठन का सूत्रपात भी किया था। विपक्षी मत के खंडन एवं स्वमत के मंडन के लिए उन्होंने प्राचीन ग्रंथों पर भाष्य लिखे तथा अपनी स्वतंत्र रचनाओं द्वारा सिद्धांतों को अधिक स्पष्ट किया। उनका विशेष ध्यान अपने मत का तर्कपूर्ण और सुसंगत विवेचन करने की ओर ही रहा करता था और उसकी प्रणाली दार्शनिक थी जिसके लिए गंभीर चिंतन एवं शास्त्रानुशीलन परमावश्यक था। इसके सिवाय रामानुजचार्य द्वारा प्रवर्त्तित श्री-संप्रदाय पूर्वप्रचलित पांचरात्र-धर्म के बहुत निकट था और उसकी उपासना-पद्धति पर कुछ अंशों तक योगशास्त्र का भी प्रभाव था। इसी प्रकार निंबार्काचार्य के सनक-संप्रदाय की प्रेम-लक्षणा भक्ति का मुख्य आधार कृष्ण एवं राधा की उपासना थी जो अधिक-तर 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' तथा 'महाभारत' की विचारधाराओं पर आश्रित थी। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना अथवा विष्णुस्वामी की गोपालो-पासना में भी उस विस्तार का समावेश न था और न उस मनोवेग को ही स्थान मिला था जो आगे चलकर क्रमशः वल्लभाचार्य एवं कृष्णचैतन्य द्वारा प्रवर्त्तित संप्रदायों की भक्ति में प्रचुरता के साथ पाए गए। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इन पिछले दो आचार्यों ने उन चारों का ही न्यूनाधिक अनुसरण किया और मतविशेष के अतिरिक्त अपनी पूजन-पद्धति एवं भजन-कीर्त्तनों के द्वारा जन-समाज के निकटतर पहुँचने का मार्ग भी निकाल लिया। इन दोनों ही आचार्यों के संप्रदाय गोपीवल्लभ अथवा राधावल्लभ

कृष्ण को अपना इष्टदेव स्वीकार करते थे और दोनों के लिए प्रमुख सांप्रदायिक ग्रंथ का स्थान 'श्रीमद्भागवत' ने ग्रहण किया था।

वल्लभाचार्य लक्ष्मण भट्ट नामक एक तैलंग ब्राह्मण के पुत्र थे जो 'कांकरव' अथवा 'काकरवाड़' नामक आंध्रदेशस्थ नगर के निवासी थे। उनका जन्म सन् १४७९ ई० में उस समय हुआ था जब लक्ष्मण भट्ट अपने परिवार के साथ काशी की तीर्थयात्रा करने निकले थे। उनके कुल के लोग सोमयज्ञ सात पीढ़ियों से करते आ रहे थे। प्रसिद्ध है कि उसकी संख्या सौ तक पूर्ण हो चुकी थी। अतएव बालक वल्लभ को लोगों ने स्वयं भगवान् के रूप में उत्पन्न अग्निदेव का अवतार माना। वल्लभ की शिक्षा काशी में रहकर माधवेंद्र पुरी के यहां हुई जहां से उन्होंने वेदादि का अध्ययन समाप्त कर वृंदावन की यात्रा की। तीर्थाटन के लिए वे दक्षिण की ओर भी गए थे और उधर के विजयनगर राज्य में जाकर वहां के पंडितों से शास्त्रार्थ कर आचार्य की पदवी प्राप्त की थी। फिर वहां से उज्जैन होते हुए वृंदावन लौट आए और कभी मथुरा तथा कभी काशी वृंदावन में रहकर अपना जीवन व्यतीत करते रहे। उन्हीं दिनों गोवर्धन पहाड़ पर देवदमन अथवा श्रीनाथ जी के रूप में गोपालकृष्ण का आविर्भाव हुआ था। प्रसिद्ध है कि उक्त भगवान् ने इस विषय में उन्हें स्वप्न भी दिया था। तदनुसार इसी संकेत के आधार पर उन्होंने श्रीनाथद्वारा की स्थापना की और भगवान् की पूजन-विधियों के प्रचार में लग गए। अंत में वे फिर एक बार काशी गए जहां पर हनुमानघाट के निकट सन् १५३० ई० में उनका देहांत हो गया।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा जो 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है और उनके मत को शुद्धाद्वैतवाद कहते हैं। उनके मूल सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय देते हुए डा० भांडारकर ने इस प्रकार लिखा है — परमात्मा ने अपने एकाकी रूप में पूर्णतः प्रसन्न न रह सकने के कारण अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा तथा अंतर्यामी आत्मा में विभाजित किया और ये तीनों उनसे वस्तुतः जलती आग की चिनगारियों की भाँति निकले, परमात्मा की इच्छा से ही प्रकृति में चित् एवं आनंद तथा जीवात्मा

में केवल आनंद का अभाव है और तीसरे में ये तीनों ही पूर्णरूप में वर्त्तमान हैं। वल्लभाचार्य अपने इसी सिद्धांत के आधार पर कहते हैं कि सच्चिदानंद की शक्ति का नाम 'माया' है जिससे रहित होकर शुद्ध जीवात्मा और परब्रह्म एकवस्तु रूप हैं। ईश्वर वा परमात्मा की कृपा के बिना मायाधीन जीवात्मा को मोक्ष-ज्ञान नहीं हो पाता और उस ईश्वरीय अनुग्रह को ही उन्होंने 'पुष्टि' वा 'पोषण' की संज्ञा दी है। इस पुष्टि द्वारा मनुष्य की भक्ति क्रमशः विकसित होकर उसके एक 'व्यसन' का रूप ग्रहण कर लेती है। ऐसी दशा में वह भगवान् हरि की नित्यलीला में भाग लेने का अधिकारी बन जाता है। 'पुष्टि' शब्द का 'अनुग्रह' अर्थ 'श्रीमद्‌भागवत' (२।१०।४) द्वारा भी प्रकट होता है और उस ग्रंथ के ही एक अन्य स्थल (३।२।११) द्वारा सूचित होता है कि 'भक्ति प्रभु की ओर उन्मुख मन की उस गति का नाम है जो समुद्र के प्रति प्रवाहित होनेवाली गंगा की गति के समान हुआ करती है।' पुष्टिमार्ग द्वारा उपदिष्ट भक्ति का भी यथार्थतः यही स्वरूप है और वह 'श्रीमद्‌भागवत' द्वारा बहुत प्रभावित है। इस पुष्टिमार्गीय भक्ति के भी चार प्रकार बतलाए गए हैं जिनमें से पहले द्वारा प्रभावित भक्त 'मर्यादापुष्टिभक्त' कहलाता है और वह भगवान् के गुणों को जानता हुआ भक्ति करता है, दूसरा 'प्रवाहपुष्टि-भक्त' होता है जो कर्म में विशेष रुचि रक्खा करता है, तीसरा 'पुष्टिपुष्ट-भक्त' होता है जो हरि का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध कर सर्वाधिक स्नेह संपन्न रहा करता है। चौथा 'शुद्धपुष्टिभक्त' हुआ करता है जो पूर्णप्रेम-पूर्वक हरि की परिचर्या एवं गुण श्रवणादि में दत्तचित्त रहा करता है।[१]

वल्लभाचार्य निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा प्रवृत्तिमार्ग को ही अधिक श्रेयस्कर समझा करते थे। उन्होंने विवाह भी किया था जिससे उन्हें गोपीनाथ एवं विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र थे और उन दोनों में, उनका देहांत होने पर, गद्दी के लिए झगड़ा चला था। कहा जाता है कि दोनों न्याय कराने के उद्देश्य से दिल्ली के बादशाह के पास भी गए थे। किंतु

---

[१]शास्त्री : 'वै० सं० इ०', पृ० २५८

गोपीनाथ की मृत्यु हो गई और विट्ठलनाथ वल्लभाचार्य की गद्दी के उत्तराधिकारी आपसे आप बन गए। विट्ठलनाथ ने संप्रदाय के प्रचारार्थ अनेक प्रयत्न किए। उन्होंने इसके लिए विविध व्रतों एवं उत्सवों की योजना की, मंदिरों में समारोहपूर्वक पूजन की व्यवस्था की, तथा भजन, गायन, वादनादि का भी प्रबंध कर सारे प्रचार-कार्य को रोचक तथा जनसाधारण की प्रवृत्तियों के अनुकूल रूप दिया। फलतः उनके प्रयत्नों द्वारा पुष्टिमार्ग का प्रचार दूर-दूर तक हो गया और सर्वत्र संप्रदाय की गद्दियों की स्थापना होने लगी। विट्ठलनाथ के अनंतर उनके सात पुत्रों में से गोकुलनाथ सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि विट्ठलनाथ के सातों पुत्रों ने बालकृष्ण की सात मूर्तियां गोवर्द्धन पर्वत पर स्थापित की थीं जिन्हें उन्होंने पीछे पृथक्-पृथक् अन्य स्थानों पर पधराया। इन सात मूर्तियों में ही श्रीनाथद्वारे के श्रीनाथ जी की, काँकरोली के द्वारकानाथ जी की, कोटा के मथुरेश जी की, जयपुर के मदनमोहन जी की, गोकुल के गोकुलनाथ जी की, सूरत के बालकृष्ण जी की, तथा अहमदाबाद के नटवरलाल जी की मूर्तियों के नाम लिए जाते हैं।[१] इन सभी स्थानों की पूजनविधि बड़ी तैयारियों के साथ चला करती थी और वहां की सजावटों का आकर्षण सर्वसाधारण पर सदा पड़ा करता था। विट्ठलनाथ के सात पुत्रों ही के द्वारा संप्रदाय क्रमशः सात वर्गों में विभक्त भी समझा जाने लगा। उनके मंदिरों में स्थापित श्रीकृष्ण की मूर्ति की पूजा आठ प्रकार से हुआ करती थी जिन्हें क्रमशः मंगलारति, शृंगार, गोपाल, राजभोग, उत्थान, भोग, सांध्य, एवं शयन कहा जाता था। प्रत्येक बार गंध नैवेद्यार्पण तथा स्तोत्रपाठ का होना भी आवश्यक था। संप्रदाय के अनुयायियों की धारणा है कि उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण गोलोक में राधादि के साथ आनंद-भोग में लीन रहा करते हैं और भक्तों का, उनकी उपासना द्वारा सखी-भाव को प्राप्त कर उनके निकट सदा विलास करना ही उनका मोक्ष है।

---

[१] मिश्र : 'भा० धा० इ०', पृ० २४५

इस संप्रदाय के अनुयायी अधिकतर गुजरात में पाए जाते हैं और वहां के धनी-मानी वैश्यों में इसका विशेष प्रचार है। ये सभी गृहस्थाश्रम में ही रह कर सांप्रदायिक नियमों का पालन करते हैं और विरक्ति को इसके लिए आवश्यक नहीं समझते। उनका प्रधान मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' अथवा 'श्रीकृष्ण शरणं मम' है, जिसका उपदेश ग्रहण कर वे जप किया करते हैं। गुरु की प्रतिष्ठा उनके यहां आवश्यक है और उसकी सेवा को वे मोक्ष का एक प्रमुख साधन मानते हैं। उनके वार्षिक महोत्सवों में सहस्रों का व्यय हुआ करता है और ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया जाता है। उनके पारस्परिक अभिवादन अधिकतर 'जयगोपाल' अथवा 'जयश्रीकृष्ण' कह कर चलते हैं और वे कला एवं साहित्य को प्रोत्साहन दिया करते हैं। उनका आदर्श लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की अलौकिक लीलाओं का जीवन है जिस कारण निम्नकोटि के व्यक्तियों पर उसका प्रभाव प्रतिकूल भी पड़ जाता है।

गौड़ीय-संप्रदाय

वल्लभाचार्य को जिस प्रकार विष्णुस्वामी-संप्रदाय के साथ जोड़ा जाता है लगभग उसी भाँति चैतन्यदेव के गौड़ीय-संप्रदाय का भी संबंध निंबार्काचार्य के सनक संप्रदाय के साथ समझा जाता है। चैतन्यदेव का जन्म बंग-प्रदेश के नदिया नामक स्थान में सन् १४८५ ई० में हुआ था। ये अपने पिता के सबसे छोटे पुत्र थे और इनका पहला नाम विश्वंभर था। किंतु आगे चलकर ये चैतन्यदेव तथा अपने अनुयायियों द्वारा स्वयं कृष्ण-स्वरूप समझे जाने के कारण, श्रीकृष्णचैतन्य कहे जाने लगे और बहुत गोरे होने के कारण इनका नाम गौरांग महाप्रभु भी पड़ गया। ये अठारह वर्ष की अवस्था में विवाह कर अपनी पत्नी लक्ष्मी देवी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। उस दशा में इनका मुख्य कार्य गंभीर अध्ययन तथा अध्यापन था। परंतु जब इनकी स्त्री का देहांत हो गया और अपना दूसरा विवाह कर किसी समय पितरों की श्राद्ध-क्रिया करने ये गयाधाम गए तबसे इनमें परिवर्तन आ गया। इनके विचार बहुत बदल गए। इन्होंने

कर्मकांड की कड़ी आलोचना आरंभ की। मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण और कीर्तन को एकमात्र साधन बतलाकर ये वर्णव्यवस्था का भी खंडन करने लगे। इनकी इस नवीन विचारधारा के समर्थक तथा इनके सहयोगी इनके सगे भाई नित्यानंद भी हो गए। अन्य साथियों के साथ इन्होंने मकान के भीतर कीर्तन करना आरंभ किया। परंतु सन् १५१० ई० में इन्होंने किसी केशवभारती नामक संन्यासी से संन्यास की दीक्षा भी ग्रहण कर ली। फिर पुरी आदि प्रसिद्ध स्थानों में कई वर्षों तक भ्रमण करते हुए ये अपने सिद्धांतों का प्रचार करते फिरे। कहा जाता है कि अपने जीवन के अंतिम दिनों में ये अधिक भावावेश के कारण कुछ उन्मत्त से भी रहने लगे थे। इनका बाह्यज्ञान प्रायः पूर्णतः लुप्त हो गया था और ये कभी प्रलाप तक भी करने लगे थे। अंत में पुरी में रहते समय सन् १५३३ ई० में ये एक दिन समुद्र की तरंगों पर पड़ती हुई निर्मल चंद्रमा की किरणों को देखते ही आत्मविभोर से हो गए और श्यामवर्ण श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष जलक्रीडा की कल्पना कर उसमें कूद पड़े, जिस कारण उनके जीवन का अंत हो गया।

चैतन्यदेव अपने गार्हस्थ्य-जीवन के समय एक महान् पंडित होते हुए भी अंत में कोई विचारक नहीं रह गए थे और न उन्हें अपनी भावोन्मत्त दशा के कारण, कभी किसी प्रकार के गंभीर चिंतन का अवकाश था। उनके सिद्धांतों का सुव्यवस्थित रूप, इसी कारण, उनके अनुयायी पंडितों द्वारा आगे चलकर प्रस्तुत किया गया। वंग-प्रदेश में उन दिनों मध्वाचार्य के संप्रदाय का प्रभाव अधिक था और चैतन्यदेव के परमगुरु कहे जानेवाले माधवेंद्र पुरी भी स्वयं उसीके अनुयायी थे। इसके सिवाय जिस वातावरण में चैतन्यदेव के पिछले जीवन का निर्माण हुआ उस पर निंबार्क, विल्वमंगल, जयदेव, चंडीदास एवं विद्यापति जैसे वैष्णवों अथवा कवियों का प्रभाव भी कुछ कम न था। इन सबके सम्मिश्रण द्वारा उनके ऊपर प्रेममय श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ श्रृंगारिक भक्ति का रंग चढ़ गया था। उनके भक्तिभाव का रूप एक प्रकार के राधाभाव में परिणत हो गया था। श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित की जानेवाली भक्ति के, उनके अनुसार, पाँच भेद किए जा सकते हैं। (१) शांतरसमयी भक्ति का उदाहरण योगियों एवं सनकादि ऋषियों

में मिलता है; (२) दास्यवाली भक्ति हनुमान् जैसे भक्तों में दीख पड़ती है; (३) सख्यभक्ति के उदाहरण में अर्जुन, श्रीदामा आदि के नाम लिए जा सकते हैं; (४) वात्सल्यमयी भक्ति नंद, यशोदादि में लक्षित होती है; और (५) माधुर्यरसवाली भक्ति के उदाहरण में गोपियों और विशेषकर राधादि के नाम गिनाए जा सकते हैं। इनमें से पाँचों क्रमशः एक-दूसरे से अधिक गाढ़े रस को प्रकट करनेवाली भक्ति के भेद कहे जा सकते हैं, जिस कारण अंतिम सर्वश्रेष्ठ है।[1] चैतन्य-संप्रदाय की यह भक्ति भी, इस प्रकार, वल्लभ-संप्रदाय के ही अनुरूप है और परकीया प्रेम की ओर संकेत करती है। फिर भी इस संप्रदाय के आचार्य रूप गोस्वामी एवं जीव गोस्वामी जैसे लोग इसे उतना महत्व नहीं देते थे।

इस संप्रदाय वालों की इष्टसेवा पद्धति भी वल्लभाचार्य के संप्रदाय द्वारा स्वीकृत परंपरा से बहुत मिलती-जुलती थी। इसमें अंतर केवल यही था कि ये लोग उसका अनुसरण दिन के आठों समय न कर अधिकतर प्रातः एवं सायंकाल में ही किया करते थे। वास्तव में गौड़ीय-संप्रदाय की उपासना का मुख्य रूप उनके संकीर्तन में ही देखा जा सकता है। कृष्ण भगवान् का प्रेम संवादित करनेवाले वैधी भक्ति के ये ६४ प्रकार के साधन भी माना करते थे, जिनमें गुरु-सेवा, वैष्णव-सत्संग, भागवत-श्रवण, द्वारका किंवा मथुरा-निवास, तुलसी-पूजन, एकादशीव्रतादि प्रधान थे। इस संप्रदाय में अविवाहित लोग भी सम्मिलित हैं जो अपने को 'ब्रह्मचारी' कहा करते हैं। कुछ लोग भ्रमणशील साधु भी हुआ करते हैं, किंतु इनके गुरु विवाहित ही होते हैं। वे अपने परिवार के साथ कृष्ण-मंदिर के निकट घरों में रहा करते हैं और उड़ीसा में तो चैतन्य की पूजा गार्हस्थ्य पूजा हो गई है। विवाह के समय चैतन्यदेव, नित्यानंद एवं अद्वैत के नामों पर नैवेद्य-दान दिया जाता है। इस संप्रदाय के अनुयायी भी अन्य वैष्णवों की भाँति गोपीचंदन का खड़ा टीका और बाहों पर राधाकृष्ण के नाम धारण करते हैं। नित्यानंद की परंपरावालों की गद्दी नवद्वीप वा नदिया में है और

---

[1]शास्त्री : 'वै० सं० इ०', पृ० २८७-८

अद्वैतानंद के अनुयायियों की शांतिपुर में है। परंतु चैतन्यदेव की परंपरा वालों ने अपने प्रमुख केंद्र नवद्वीप, मथुरा, वृंदावन, श्रीहट्टपुरी आदि कई स्थानों में स्थापित किए हैं। इस संप्रदाय के अनुयायियों को कभी-कभी चार पृथक् पृथक् वर्गों में भी गिना जाता है जिसके अनुसार वे क्रमशः गोस्वामी, गृहस्थ, वैरागी एवं जात-वैरागी कहे जाते हैं और इनके द्वारा प्रभावित उपसंप्रदायों में सहजिया, किशोरभाजा, नेडानेडी, बाउल, दरवेश, जगन्मोहिनी, गौरांगसेवक, स्पष्टदायक आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं।

चैतन्यदेव ने वल्लभाचार्य के 'अणुभाष्य' के समान ब्रह्मसूत्रों पर किसी भाष्य की रचना नहीं की थी और न उन्होंने अपने मत के लिए किसी दार्शनिक आधार का निरूपण कर उसका कहीं स्पष्टीकरण ही किया था। यह कार्य उनके पीछे उनके कतिपय योग्य अनुयायियों ने अपने-अपने विचारानुसार किया। वही गौड़ीय-संप्रदाय के सिद्धांतों का आधार समझा जाता है। ब्रह्मसूत्रों पर इस मत के अनुसार की गई भाष्य-रचना आचार्य बलदेव की प्रसिद्ध है जिसे 'गोविंदभाष्य' कहा जाता है। यों तो, गौड़ीय-संप्रदाय के अनुसार एक प्रकार से 'श्रीमद्‌भागवत' ही वेदांतसूत्रों पर भाष्यस्वरूप है। किंतु कई स्थलों पर उसकी इस मत के अनुसार व्याख्या कर देने की भी आवश्यकता पड़ती है जिसे ध्यान में रखकर उक्त भाष्य की रचना हुई। यह संप्रदाय दार्शनिक विचारानुसार माध्वमत से बहुत कुछ प्रभावित है। दोनों मत ब्रह्म को सगुण एवं सविशेष मानते हैं, तथा जगत् का सत्य होना भी दोनों को मान्य है और दोनों इसे ब्रह्म का परिणामस्वरूप भी ठहराते हैं। फिर भी मध्वाचार्य जीव को जहां उसकी मुक्तावस्था तक में ब्रह्म से भिन्न मानते हैं वहां आचार्य बलदेव दोनों को गुण और गुणी भाव से, भिन्न एवं अभिन्न भी स्वीकार करते हैं और इसी दृष्टि से समस्त जीव जगत् ब्रह्म में लीन भी हो जाता है। इसी प्रकार भक्ति के संबंध में सेव्य-सेवक विचार से दोनों ही सहमत हैं। किंतु बलदेव दास्य के अतिरिक्त शांत, सख्य, वात्सल्य और विशेषतः माधुर्य को भी प्रश्रय देते हैं। जीव की ब्रह्म के साथ भिन्नता एवं अभिन्नता की दृष्टि से इस मत को 'भेदाभेदवाद' कहते हैं और यह निंबार्क

के द्वैताद्वैत के अनुकूल पड़ता है और इन दोनों की 'अचिंत्य शक्ति' के संबंध में भी समानता है।[1] इसी प्रकार गौड़ीय-संप्रदाय का माधुर्यभाव वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय मधुरभाव के साथ सादृश्य रखता है और इन दोनों के इष्टदेव का भी किसी न किसी रूप में, गोकुल के गोपालकृष्ण का होना साम्य का एक प्रमुख आधार है।

महापुरुषिया-संप्रदाय

चैतन्यदेव के गौड़ीय-संप्रदाय का प्रचार आरंभ होने के कुछ पहले से ही आसाम प्रदेश में एक अन्य वैष्णव-संप्रदाय प्रचलित हो चुका था जिसे 'महापुरुषिया-संप्रदाय' कहा जाता है और जिसके मूलप्रवर्तक शंकरदेव थे। शंकरदेव का जन्म सन् १४४९ ई० में कामरूप के एक भूयन-परिवार में हुआ था जो अपने मूलस्थान का परित्याग करके अलिपुखुरी (ज़िला नवगांव) में आकर बस गया था और उनके पिता का नाम कुसुमवर था। अपने माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण उनका पालन-पोषण उनकी दादी द्वारा किया गया और वे एक स्वस्थ एवं सुशिक्षित युवक बन गए। कालांतर में उनके दो विवाह हुए और उन्होंने कुछ यात्राएं भी कीं। प्रारंभ से ही धार्मिक मनोवृत्ति होने के कारण उन्होंने कुछ अपने सिद्धांत स्थिर किए। फिर वे धीरे-धीरे अपने मत का प्रचार भी करने लगे और इस कार्य में उन्हें एकाध योग्य सहयोगी भी मिल गए। शंकरदेव ने अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण में कुछ ग्रंथों की रचना की और उन्होंने अनेक स्थानों पर जाकर उपदेश भी दिए। उनके मत का नाम पहले 'सनातन-भागवतीधर्म' प्रसिद्ध था, किंतु पीछे वह महापुरुषिया-संप्रदाय में परिवर्त्तित हो गया। शंकरदेव का देहांत कुचबिहार प्रदेश के अंतर्गत सन् १५६८ ई० में हुआ और उनके मत का प्रचार अनुयायियों द्वारा होने लगा।

शंकरदेव के मत का दार्शनिक आधार एक प्रकार का विशिष्टाद्वैतवाद था जो श्री-संप्रदाय का भी सिद्धांत रहा। इनके मत के चार प्रधान अंगों

---

[1] गौड़ : 'हिंदुत्व', पृ० ६८२

में परमब्रह्म का ज्ञान, उसके प्रति 'एकशरण' भक्ति,सत्संग तथा भगवत्सेवा गिने जाते हैं और इनकी भक्ति को दास्यभाव के अनुसार सेव्य-सेवक भावविशिष्ट कहा जाता है। यह केवल श्रीकृष्ण के प्रति उद्दिष्ट है और अहेतुकी है तथा उसके नामस्मरण को महत्त्व देती है। वे कृष्ण के साथ राधा तक को नहीं स्वीकार करते। 'श्रीमद्भागवतपुराण' की इस संप्रदायवालों के यहां इतनी प्रतिष्ठा है कि वे लोग इस ग्रंथ को सिखों के 'गुरुग्रंथ साहब' की भाँति मंदिरों में उच्च स्थान देकर पूजते हैं और इसे भगवान् की मूर्ति के समान माना करते हैं। शंकर-देव के शिष्य माधवदेव की उपाधि भी उनके अनुयायियों के यहां महापुरुष को ही दी गई है, जिस कारण संप्रदाय का नाम भी 'महा-पुरुषिया' पड़ गया है। शंकरदेव के लिए आदर्श भक्त उद्धव थे और उनके अविवाहित अनुयायी 'केवली' कहलाते थे। माधवदेव ने ब्रह्मचर्य के जीवन को विशेष महत्त्व दिया था और उन्होंने अपने गुरु शंकरदेव के सिद्धांतों का पूरा अनुसरण किया। शंकरदेव एवं माधवदेव के महापुरुषिया-संप्र-दाय के अतिरिक्त दामोदरदेव द्वारा प्रवर्तित 'दामोदरीय-संप्रदाय' तथा हरिदेव द्वारा प्रवर्तित 'हरिदेवीय-संप्रदाय' का भी आसाम में प्रचार है। किंतु इन तीनों में अंतर कम है। शंकरदेव के महापुरुषिया-संप्रदाय की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सामाजिक सुधार का भी स्पष्ट कार्यक्रम रहा करता है। इसके लिए उस संप्रदाय के अनुयायी भिन्न-भिन्न स्थानों पर 'सत्र' नामक संस्थाएं स्थापित करते हैं। वे लोग अपने संप्रदाय की बातों का प्रचार कभी-कभी नाटकों द्वारा भी किया करते हैं। संप्रदाय के मत का सार यह है—'कृष्ण के प्रति एकांतिक भक्ति में परंपराओं अथवा वर्णाश्रमादि की भिन्नता को स्थान नहीं है। वह विश्व के लिए कल्याणकर है। वह उस अमृत के समान है जिसके किसी भी रूप में सेवन करने से शाश्वत अमरत्व मिलता है।'[१]

---

[१]कृष्णार भकति आति, नचावे आचार जाति, जगतरे महा हितकर।
येन अमृत थाइले, येइ सेइ मते खाइले, सबे हय अजर अमर॥
हरमोहनदास-रचित 'शंकरदेव—ए स्टडी' पृ० ७७ पर उद्धृत।

रामावत-संप्रदाय

श्रीकृष्ण अथवा राधाकृष्ण को अपने संप्रदाय में प्रधानता देनेवाले मूलतः वे वैष्णव थे जो विष्णु वा नारायण के श्रीकृष्णावतार की उपासना करते थे और उनकी संख्या बहुत बड़ी थी। विष्णु के अन्य अवतार उतने प्रसिद्ध न हो सके। केवल रामावतार के पूजन एवं प्रचार में योग देने-वाले वैष्णव ऐसे थे जिन्होंने कृष्णभक्तों को भाँति कुछ संगठन किया तथा जिनके कतिपय संप्रदायों की रचना भी हो सकी। इन लोगों में भी 'रामावत-संप्रदाय' के अनुयायी सबसे अधिक सफल हुए जिसके मूलप्रवर्त्तक स्वामी रामानंद थे। स्वामी रामानंद का जन्म प्रयाग के एक कान्यकुब्ज परि-वार में सन् १२९९ ई० में हुआ था और उनका पहला नाम रामदत्त था। अपने यहां कुछ दिनों तक अध्ययन करने के उपरांत दर्शनशास्त्र की शिक्षा के लिए, वे काशी गए जहां पर उनके प्रथम अध्यापक एक शांकराद्वैतवादी पंडित थे। काशी में किसी दिन उनकी भेंट विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानंद से हो गई जिनसे मंत्र लेकर उन्होंने श्री-संप्रदाय में प्रवेश किया। स्वामी राघवानंद ने उन्हें योगाभ्यास की भी शिक्षा दी और उनका नाम रामानंद रख दिया। परंतु एक बार जब ये कहीं से तीर्थादि की यात्रा कर लौटे और इन्होंने अपने अनुभवानुसार जाति-पाँति के बंधन को ढीला करना चाहा तो उनसे इनका मतभेद हो गया जिस कारण इन्होंने उक्त 'रामावत-संप्रदाय' के नाम से अपनी एक स्वतंत्र संस्था स्थापित कर दी।

स्वामी रामानंद की विचारधारा के अनुकूल क्षेत्र कुछ पहले से ही तैयार होता आ रहा था। मुस्लिम प्रभाव उस समय तक बहुत बढ़ चुका था और मुस्लिम शासकों की हठधर्मिता के कारण हिंदू धर्मानुयायियों के लिए संकट का अवसर था। फलतः अपने धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हिंदू विचारक कोई न कोई मार्ग निकालने की चिंता में प्रवृत्त थे। धर्म का देश-कालानुसार अनुसरण करना तथा सामाजिक क्षेत्र में अधिक उदारता से काम लेना स्वामी रामानंद को परमावश्यक प्रतीत हुआ। उन्होंने अपने धार्मिक सुधार की योजना इस प्रकार बना डाली जिससे



विष्णु की त्रिमूर्ति
[मध्ययुगीन : राजस्थान म्यूज़ियम, अजमेर]



तत्कालीन समाज को बहुत कुछ बल मिल गया। रामानंद के दार्शनिक सिद्धांत अधिकतर विशिष्टाद्वैत का ही अनुगमन करते थे। किंतु श्रीसंप्रदाय के उपास्यदेव नारायण के स्थान पर उन्होंने राम और सीता को स्वीकार किया तथा उसके भक्तियोग की उपासना एवं अर्चन-विधियों को अधिक महत्त्व न देकर उन्होंने प्रधानतः भजनभाव की ओर ही सबका ध्यान दिलाया। इसके सिवाय अपने मत का प्रचार करने के लिए उन्होंने वैरागियों का संगठन किया तथा उनके दल में, वैष्णव होने के नाते, शूद्रादि को भी सम्मिलित किया। उनका संप्रदाय, इस प्रकार, बहुत लोकप्रिय हो चला और उनकी विचारधारा के सीधे वा गौण प्रभाव में अनेक प्रकार के उपयोगी एवं उन्नतिशील आंदोलनों की सृष्टि हुई जिनसे सामाजिक सुधार को भी प्रेरणा मिली।

प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानंद ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्यों की रचना की है जिनमें से ब्रह्मसूत्रों पर 'आनंदभाष्य' अन्यतम है। उसमें ब्रह्म को उन्होंने 'ब्रह्मशब्दवाच्य' श्रीराम ठहराया है और उसीको सगुण एवं निर्गुण दोनों ही माना है। उनके अनुसार 'निकृष्ट प्राकृत गुणों से रहित' को ही 'निर्गुण' कहते हैं और दिव्य गुणों के कारण भगवान का सगुणत्व सिद्ध होता है। उन्होंने अनन्यभक्ति को मोक्ष का अव्यवहितोपाय माना है तथा प्रपत्ति को भी स्वीकार किया है। संप्रदाय का गुरुमंत्र राम नाम है। इनके अनुयायियों का परस्पराभिवादन भी 'जयश्रीराम', 'सीताराम', 'जयराम', आदि द्वारा होता है। श्रीसंप्रदाय के कठोर नियमों को स्वामी रामानंद ने यथासाध्य सरल एवं सुगम कर दिया। इनके संप्रदाय में संस्कृत ग्रंथों की अपेक्षा हिंदी में लिखी रचनाएं अधिक प्रचलित हुई जिनसे साधारण जनता ने भी पूरा लाभ उठाया। संप्रदाय का प्रचार विशेष कर उत्तरप्रदेश में हुआ जहां अयोध्या नगर उसका प्रधान केंद्र बना और अन्य स्थानों में भी इसके मठ स्थापित किए गए।

रामदासी-संप्रदाय

भगवान् श्रीराम को उपास्यदेव माननेवालों का एक अन्य संप्रदाय रामदासी-संप्रदाय बनकर प्रचलित हुआ। स्वामी रामदास का जन्म सन्

१६०८ ई० में गोदावरी तटवर्ती जम्मू नामक स्थान में हुआ था और उनका पूर्वनाम नारायण था। उन्हें अपनी बाल्यावस्था से ही रामभक्ति के प्रति विशेष आकर्षण था और वे वैराग्यभाव से भी प्रभावित थे। वे विवाह के समय मंडप से निकल भागे और नासिक के पास एक गुफा में तपस्या करने लगे। उन्होंने कई तीर्थयात्राएं भी कीं। अंत में उनकी साधुता की प्रसिद्धि इतनी बढ़ चली कि महाराज शिवाजी ने जाकर उनके दर्शन किए और वे उन्हें गुरुवत् भी मानने लगे। उनका पूरा नाम समर्थ गुरु रामदास कहलाकर प्रसिद्ध हो चला। समय-समय पर वे महाराज शिवाजी को परामर्श देने लगे। उन्होंने भगवान रामचंद्र के अतिरिक्त हनुमान् की उपासना का भी प्रचार किया और अनेक 'मारुति-मंदिर' स्थापित कराए। उनके उपदेशों द्वारा महाराष्ट्र के प्रदेश भर में एक नवीन जीवन का संचार हो गया और हिंदू संस्कृति सजग हो उठी। उनकी मृत्यु सन् १६८१ ई० में हुई और उनके सिद्धांतों के आधार पर रामदासी-संप्रदाय चल पड़ा। समर्थ गुरु रामदास के मत का सार उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'दासबोध' में दिया हुआ है जो कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ समझा जाता है।

इस संप्रदाय का मुख्य-स्थान सतारा के निकट सज्जनगढ़ में वर्त्तमान है जहां रामदास की एक समाधि भी है। इस संप्रदाय की एक बड़ी विशेषता निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्गों का सुंदर समन्वय है। मतका सार 'प्रयत्न' 'प्रत्यय' और 'प्रबोध' नामक तीन शब्दों में ही आ जाता है और ये ही तीन शब्द समर्थ गुरु रामदास के जीवन के भी पथप्रदर्शक बने थे। ये हनुमान् जी के अवतार माने जाते हैं। किंतु 'दासमारुति' के स्थान पर इनके यहां 'भीममारुति' की ही उपासना प्रचलित है। रामनवमी के उत्सव मनाने की भी इन्होंने कुछ नवीन विधि स्वयं लिख रखी है और इनके मंत्र व भेषादि भिन्न हैं।

उद्धवि-संप्रदाय

वैष्णवधर्म के सुधारक संप्रदायों में स्वामी नारायण के उद्धवि-संप्रदाय का भी नाम लिया जाता है। प्रसिद्ध है कि यह संप्रदाय गुजरात प्रांत

में प्रचलित वल्लभाचार्य के संप्रदाय के दोषों का सुधार करने के उद्देश्य से ही प्रचलित किया गया था। इस संप्रदाय के संस्थापक का वास्तविक नाम स्वामी सहजानंद था जो सरवरिया देश के छपैया गाँव में सन् १७८१ ई० में उत्पन्न हुए थे और सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा जो पहले घनश्याम नाम से ही प्रसिद्ध थे। मातापिता का देहांत हो जाने पर ये केवल ११ वर्ष की अवस्था में घर से निकल पड़े और बदरिकाश्रम के किसी योगी के निकट जाकर इन्होंने कई विद्याएं सीख लीं। फिर वे ब्रह्मचारी बनकर देशाटन को निकले और रामेश्वरम्, पंढरपुर आदि होते हुए भुज (कच्छ देश) पहुँचे जहां पर ये किसी रामानंद साधु से दीक्षा ग्रहण कर सहजानंद नामधारी बन गए। काठियावाड़ में उन दिनों धर्म के नाम पर अनेक प्रकार की कुरीतियां प्रचलित थीं जिन्हें दूर करने के लिए वे कटिबद्ध हो गए और इस प्रकार अपने संप्रदाय का परिवर्त्तन किया। अपने पथ का द्वार उन्होंने सभी जातियों के लिए खोल दिया। उनके अनुयायियों में मुस्लिम खोजा तक प्रविष्ट होने लगे। उनका देहांत सन् १८२९ ई० में हुआ और उनके उपदेशों को उनके शिष्यों ने 'शिक्षापत्री' नामक एक पुस्तक में संगृहीत कर लिया।

स्वामी सहजानंद ने किसी नवीन तत्त्वज्ञान का उपदेश नहीं किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत को ही अपनाया। फिर भी इनके अनुयायियों ने इन्हें स्वामी नारायण के रूप में स्वयं परब्रह्म का अवतार माना और इन्हें 'प्रकट पुरुषोत्तम' भी कहा। इनके यहां श्रीसंप्रदाय के चतुर्भुजी विष्णु के स्थान पर द्विभुजी की ही पूजा होती है। इन्होंने भक्ति में स्त्रीभाव का आरोप किया है, किंतु 'जारभाव' की अपेक्षा 'पातिव्रतभाव' ही अपनाया है। यह स्त्रीभाव भी अधिकतर इनके अनुयायी प्रेमानंद की ही विशेषता थी। स्वयं इन्होंने उस पर बहुत बल न देकर सत्संग का उपदेश दिय था। इस संप्रदाय का अधिक प्रचार अहमदाबाद की ओर है।

अन्य संप्रदाय

वैष्णवधर्म के उपर्युक्त दस संप्रदायों के अतिरिक्त और भी अनेक

संप्रदाय संगठित हुए जिन्होंने अपने-अपने ढंग से इस धर्म के प्रचार में सहयोग प्रदान किया और इसे देश से लेकर विदेशों तक में प्रचलित कर दिया। उक्त दस संप्रदाय केवल उदाहरण के रूप में दिए गए हैं और उन्हें स्थूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चार को हम प्राचीन वैष्णव-संप्रदाय कह सकते हैं जिनकी विशेषता उनके अधिकतर वेदांतपरक होने में है। शेष छः संप्रदायों में से प्रथम तीन वे हैं जिन्होंने तत्त्वज्ञान से अधिक उपासनापद्धति को महत्त्व दिया और दूसरे तीन वे हैं जिन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों को भी अपने कार्यक्रम का लक्ष्य बनाया। इन छः संप्रदायों में से प्रायःसभी उक्त चार प्राचीन संप्रदायों में से ही किसी न किसी को अपने तत्त्वज्ञान के लिए एक प्रकार से आदर्श मान लेते हैं। उनसे किन्हीं बातों में मतभेद रखते हुए भी अधिक दूर जाते हुए नहीं जान पड़ते। अन्य संप्रदाय भी इन्हींके अंतर्गत लाए जा सकते हैं।

वैष्णवधर्म के अन्य प्रसिद्ध संप्रदायों में कुछ के नाम इस प्रकार दिए जा सकते हैं—(१) राधावल्लभी संप्रदाय जिसे हितहरिवंश ने सन् १५८५ ई० में वृंदावन में चलाया था और जिसमें राधा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। (२) हरिव्यासी संप्रदाय जिसे बुंदेलखंड के हरिराम शुक्ल ने प्रवर्त्तित किया था और जो वस्तुतः निंबार्काचार्य के संप्रदाय की ही एक शाखा है। (३) गोकुलेश-संप्रदाय जिसके अनुयायी नाना भाँति के आभूषण एवं सुगंधित द्रव्यादि धारणकर कृष्ण के केलि-समय के रूप की उपासना करते हैं। (४) सखीभावक-संप्रदाय जिसके अनुयायी अपने को कृष्ण की सखी माना करते हैं और ललितादि सखियों का अवतार भी समझा करते हैं। (५) मार्गी-संप्रदाय जिसका प्रचार जनश्रुति के अनुसार, किसी साधु यात्री द्वारा मार्ग में छोड़ दिए हुए एक ग्रंथ के आधार पर बनाये गए नियमों के पालन के रूप में द्वारका की ओर पहले-पहल हुआ था। (६) हरिदासी वा टट्टी-संप्रदाय जिसे स्वामी हरिदास ने अकबर के समय में चलाया था।

१०. वैष्णवधर्म की स्वतंत्र परंपराएं

अबतक जिन वैष्णव-संप्रदायों की चर्चा होती आई है वे स्पष्ट-रूपेण सगुणोपासक हैं। मूर्ति-पूजा में वे पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हैं तथा भगवद्गुणानुवाद की साधना किसी न किसी रूप में किया करते हैं। शास्त्रविहित नियमों तथा आचारों में उनकी आस्था सदा से रहती चली आई है और इस दृष्टि से वे रूढ़ियों एवं परंपराओं के पोषक और प्रचारक भी कहे जा सकते हैं। किंतु वैष्णवधर्म के अनुयायियों में ही कुछ ऐसे वर्गों का भी निर्माण हो गया है जिन्हें न्यूनाधिक स्वतंत्र कह सकते हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो निर्गुणोपासना में विश्वास करते हैं और जो सगुणोपासना को उतना महत्त्व देना नहीं चाहते। ये लोग स्वभावतः वेदांत और विशेषकर अद्वैतवाद के अनुयायी हैं और ग्रंथों के अर्थ निर्गुणोपासनापरक लगाया करते हैं। इनके अद्वैतवादी विश्वास ने ही इनमें सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा का भाव भर दिया और साम्य की दृष्टि से युक्त भी कर दिया। इन वर्गवालों की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि इनमें से कई एक नाथ-पंथ वा बौद्धधर्म तक से बहुत कुछ प्रभावित थे। इस कारण इनकी उपासना-पद्धति के अंतर्गत कायासाधन, तांत्रिक कार्यक्रम एवं शून्यवाद के प्रभाव लक्षित होते हैं। इन वर्गों की इस प्रकार कई भिन्न-भिन्न कोटियां हो सकती हैं जिनमें से कुछ की चर्चा नीचे की जा रही है।

महानुभाव-पंथ

महानुभाव-पंथ वा मानभाव-पंथ की प्रथम विशेषता उसके द्वारा अपने विषय में कुछ प्रकट न करने में दीख पड़ती है। इसके अनुयायी अपने धर्मग्रंथों को अत्यंत गुप्त रखते रहे हैं। कुछ ने अपने लिए सांकेतिक लिपि तक का प्रयोग किया है। यह लिपि शाखाभेद के अनुसार छब्बीस तक

की संख्या में पाई गई है । इनके सांप्रदायिक रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न सर्वप्रथम लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में प्रकाशित अपने कई लेखों द्वारा किया था जो उसके सन् १८९९ ई० के कुछ अंकों में प्रकाशित हुए थे । उसके उपरांत इस कार्य को क्रमशः प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रजवाड़े, 'महाराष्ट्र-सारस्वत' के रचयिता श्री भावे तथा 'महानुभावी मराठी वाङ्मय' के लेखक श्री यशवंत देशपांडे ने बहुत कुछ पूरा किया ।[1] इन विद्वानों के विविध प्रयत्नों का फल यह हुआ कि इस पंथ की बातें अब उतनी रहस्यमय नहीं रह गईं और उनका बहुत-सा भेद प्रकट हो गया । इसके सिवाय इस पंथ के अनुयायियों में से भी कुछ लोगों ने अपने कठोर नियमों में शिथिलता लाकर इस ओर उदारता प्रदर्शित करना आरंभ कर दिया है, जिस कारण इस विषय की अनेक समस्याएं क्रमशः सुलझती जा रही हैं । एकाध विद्वान् इस समय इसके गंभीर अध्ययन में प्रवृत्त हैं और निकट भविष्य में ही इस पर किसी प्रामाणिक ग्रंथ की रचना की जा सकती है । ऐसी दशा में संभव है इसके प्रति सर्वसाधारण की वह दुर्भावना नहीं रह जायगी जिसे एकनाथ, तुकाराम जैसे प्रसिद्ध संतों तक ने प्रकट की थी और जिसके कारण महाराष्ट्र की धार्मिक जनता इसके अनुयायियों का मुख तक नहीं देखा करती थी ।

इस पंथ के नाम भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न पड़ गए हैं । इसके कारण भी कभी-कभी कठिनाई पड़ जाती है । महाराष्ट्र में यह जिस प्रकार 'मानभावपंथ' कहलाता है उसी प्रकार गुजरात में इसे 'अच्युतपंथ' तथा पंजाब में 'जयकृष्णिपंथ' कहते हैं । स्थानविशेष के कारण इसमें कहीं-कहीं कुछ अंतर भी दीख पड़ता है । इसका प्रचार उक्त प्रांतों के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के कुछ भागों तथा काश्मीर देश एवं काबुल तक में कुछ न कुछ पाया जाता है । इस पंथ की स्थापना के संबंध में जनश्रुति है कि इसके मूल-प्रवर्त्तक कोई कृष्णभट्ट जोशी थे । जो दक्षिण-भारत के

---

[1] 'हिंदुस्तानी', भा० ८, अं० ३, पृ० २५३-४ (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)

किसी शेम्वे ग्राम के निवासी थे । उनका जन्म सन् १०४७ ई० में हुआ था और वे अपने हस्त-चातुर्य एवं वेशधारण के लिए प्रसिद्ध थे । एक बार उन्हें कृष्ण के भेषमें पाकर पैठन के राजा चंद्रसेन के मंत्री हेमाद्रि पंत ने उन्हें बंदी बना लिया और फिर उनका, उनके साथियों सहित, देश निकाला कर दिया, जिस कारण उस समय से वे लोग सिर मुँड़ाकर काले वस्त्रों में रहने लगे । परंतु इधर के विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि इस पंथ के संस्थापक भड़ोंच के राजा हरपालदेव थे जिनका नाम पीछे 'चक्रधर' पड़ गया । इस प्रकार यह पंथ सर्वप्रथम गुजरात में स्थापित हुआ था और महाराष्ट्र में पीछे प्रचलित हुआ ।

इस पंथ के उपास्यदेव श्रीकृष्ण हैं और इसमें गुरु दत्तात्रेय की भी उपासना चलती है । इसके अनुयायी कृष्ण की रासलीलादि को अधिक महत्त्व देते हैं और भजन करते हैं । किंतु मूर्त्तिपूजा को नहीं मानते । ये लोग हिंदुओं के वर्णभेद को मिटाकर सबके साथ मैत्री एवं समानता का भाव बरतना चाहते हैं जिस कारण सवर्ण हिंदू इनसे घृणा किया करते हैं । ये लोग तत्त्वज्ञान की दृष्टि से द्वैतवादी कहे जा सकते हैं । किंतु ईश्वर को ये लोग निर्गुण एवं निराकार ही माना करते हैं । इनके आचार्य महंत कहे जाते हैं जिनके आधीन अनेक मानभाव रहा करते हैं । महंत के समाधिस्थ होजाने पर उसके उत्तराधिकारी का निर्वाचन हुआ करता है जिसे शिष्य लोग अपने में से ही निर्वाचित कर लेते हैं । महंत के पास छत्र, चामर, पालकी, मुहर आदि सभी राजचिह्न रहा करते हैं और वह गद्दी पर बैठा करता है । इसमें गृहस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम नामक दो वर्ग होते हैं जिनमें से दोनों के ही लोग मद्य, मांस एवं हिंसादि से घृणा करते हैं । इस पंथ के पास ग्रंथों की कमी नहीं है और इसका कुछ साहित्य मराठी भाषा के प्राचीन-तम साहित्य का अंग समझा जाता है ।

वारकरी-संप्रदाय

महाराष्ट्र प्रांत में ही इस प्रकार का एक अन्य वर्ग वारकरी-संप्रदाय के नाम से प्रचलित है जिसकी प्रमुख विशेषता निर्गुणोपासना है और जिसके

प्रवर्त्तकों की विचारधारा नाथपंथ द्वारा बहुत कुछ प्रभावित है। इसके मूल-प्रवर्त्तक कोई पुंडरीक नामक महापुरुष थे। जिनके जीवनकाल वा जीवनवृत्त के विषय में प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। सन् १२४९ ई० के एक ताम्रलेख से इतना पता चलता है कि देवगिरि के यादव-वंशज कृष्ण के सेनापति ने वेलगाँव ज़िले के अंतर्गत स्थित पवित्र पौंडरीक क्षेत्र को दान में दिया था[१] और इस क्षेत्र का भीमा नदी के तट पर बस जाना बतलाया जाता है जिस कारण वह वर्तमान पंढरपुर हो सकता है। 'पौंडरीक' शब्द, संभवतः पुंडरीक से ही बना हुआ है, इसलिए उक्त पुंडरीक नामक व्यक्ति का समय तेरहवीं शताब्दी (ईस्वी) के पूर्व का माना जा सकता है। पुंडरीक के विषय में एक कथा भी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि पंढरपुर के आसपास पहले डिंडीरवन नामक एक जंगल था जहां पर पुंडरीक रहा करते थे और वे बड़े मातृ-पितृभक्त थे। एक बार द्वारकावासी कृष्ण से राधा के अधिक सम्मानित होने पर रुष्ट होकर, जब रुक्मिणी डिंडीरवन चली गई थीं तो कृष्ण ने उन्हें वहां जाकर मनाया था। पुंडरीक की पितृ-भक्ति का पता चलने पर कृष्ण उनके यहां भी पहुँचे थे और पुंडरीक ने उन्हें बैठने के लिए एक ईंट दे दी थी। भक्तों का विश्वास है कि पंढरपुर के उपास्यदेव विट्ठलनाथ ही वे कृष्ण थे जो अबतक अपनी प्रिया रुक्मिणी के साथ ईंट पर वहां खड़े हैं। पंढरपुर पुंडरीक के समय से ही एक पवित्र स्थान माना जाकर महाराष्ट्र का सर्वप्रधान तीर्थ हो गया। उसके मंदिर में वर्त्तमान विट्ठलनाथ की मूर्ति वहां के वारकरी वैष्णवों के उपास्यदेव का प्रतीक बन गई।

'विट्ठल' शब्द 'विष्णु' का एक रूपांतर है और 'वारकरी' शब्द 'वारी' अर्थात् परिक्रमा वा तीर्थयात्रा से बना है। अतएव वारकरी-संप्रदाय वालों की एक अन्य विशेषता यह भी समझी जाती है कि वे साल में कम से कम दो बार उस पुण्यक्षेत्र की यात्रा नियमित रूप से किया करते हैं और विट्ठल-नाथ के दर्शन भी करते हैं। इसके प्रमुख प्रचारकों में ज्ञानदेव (सन् १२७५-

---

[१]भांडारकर : 'वै० शै०' पृ० १२४

१२९६ ई०) नामदेव (सन् १२७०-१३५०ई०) एकनाथ (सन् १५२८-१५९९ई०) तथा तुकाराम (सन् १६०८-१६४९ई०) प्रसिद्ध हैं। ज्ञानदेव के पिता भी विट्ठलनाथ के उपासक थे और ज्ञानदेव तथा उनके भाई-बहन का जन्म उनके वैराग्य ग्रहण करने पर हुआ था। अपनी जातिवालों ने, इसी कारण, इन बालकों का पूर्ण तिरस्कार किया। अंत में ज्ञानदेव की विद्वत्ता, दृढता एवं प्रसिद्धि ने उन्हें किसी प्रकार जातिभ्रष्ट होने से बचाया और आंदोलनों में प्रमुख भाग लेने दिया। ज्ञानदेव ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर 'भावार्थदीपिका' नामक एक सुंदर टीका लिखी जो 'ज्ञानेश्वरी' नाम से भी प्रसिद्ध है और जो संप्रदाय के मत को भली भाँति प्रकट करती है। नामदेव ज्ञानदेव के समकालीन थे और विसोवा खेचर नामक संत के शिष्य थे। वे जाति के छीपी थे। उनके पदों में उनके हृदय की शुद्धता, दैन्य, आत्मसमर्पण एवं ईश्वरभक्ति के भाव पूर्णतया लक्षित होते हैं। नामदेव ने भी अर्चन-पूजन के विधान को शुद्ध भक्ति के सामने तुच्छ माना है और वे कीर्त्तन को बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं। भक्तों के लिए वर्ण वा जाति का वे कोई मूल्य नहीं ठहराते। एकनाथ के प्रपितामह भानुदास विट्ठलनाथ के परम भक्त थे। इन्होंने अपने स्थान पैठण से दौलताबाद जाकर जनार्दन स्वामी को अपना गुरु बनाया था और 'भागवतपुराण' पर एक टीका लिखी थी जो 'एकनाथी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है और जो 'ज्ञानेश्वरी' की ही भाँति संप्रदाय के मत का प्रतिपादन करती है। एकनाथ को ज्ञानदेव का अवतार माना जाता है। उसी प्रकार, तुकाराम को भी नामदेव का अवतार समझा जाता है। तुकाराम का जन्म देहू नामक ग्राम में हुआ था और इनके सात पूर्वपुरुष तक विट्ठलनाथ के भक्त रह चुके थे। वे वैश्य थे। किंतु धनोपार्जन की चिंता उन्होंने कभी नहीं की और आर्थिक कष्टों को झेलते हुए सदा अपने अभंगों अर्थात् पदों को गाते रहे। वे एकांतनिष्ठ भक्त थे। उनकी रचनाएं संप्रदाय की अनमोल वस्तु हैं।

वारकरी-संप्रदाय ने भक्ति एवं ज्ञान का बहुत सुंदर सामंजस्य प्रतिपादित किया है जिस कारण स्वभावतः द्वैतभाव-मूलक भक्ति इसके अनुयायियों के यहां पूर्ण अद्वैतवाद का समर्थन करती हुई प्रतीत होती है।

ज्ञानदेव ने इस बात को समझाने के लिए अपने 'अमृतानुभव' ग्रंथ में एक बहुत उपयुक्त दृष्टांत दिया है और कहा है, "यदि एक ही पर्वत को काट कर उसकी गुफा के भीतर देवता, देवालय तथा भक्त-परिवार का निर्माण एक साथ किया जा सकता है तो अद्वैतभाव के साथ भक्ति क्यों नहीं संभव है?"[1] वे अपनी 'ज्ञानेश्वरी' में यह भी कहते हैं कि "अद्वैत भाव के साथ भक्ति का होना व्यक्तिगत अनुभव की बात है। यह शब्दों द्वारा कभी समझाई नहीं जा सकती।"[2] तथा "साढ़े पंद्रह के सोने में अर्थात् उत्तम स्वर्ण में उत्तम स्वर्ण के मिलने से ही वह उत्तम स्वर्ण होता है, इसी प्रकार, मद्भक्ति भी मद्रूप होने पर ही हो सकती है। देखो यदि गंगा समुद्र से भिन्न होती तो वह उसमें किस प्रकार मिल पाती?"[3] इत्यादि। भक्ति को इन लोगों ने मूल तथा ज्ञान को फल माना है और कहा है कि दोनों के रहते पतन संभव नहीं। यह संप्रदाय कृष्णभक्ति-मूलक होने पर भी शिव का विरोधी नहीं है और अपनी योगसाधना में शिव को ही प्रधानता देता है। इसके भीतर चैतन्य-संप्रदाय, स्वरूप-संप्रदाय, आनंद-संप्रदाय और प्रकाश-संप्रदाय नामक चार उपसंप्रदाय भी हो गए हैं।

हरिदासी-संप्रदाय

वारकरियों के ही प्रदेश में, किंतु उनसे अधिकतर उत्तर की ओर हरिदासों का भी एक संप्रदाय प्रचलित है जिन्हें कभी-कभी उसके अनुसार 'दासकूट' भी कहा करते हैं। हरिदासों वा दासकूटों का मूल दार्शनिक

---

[1] देव देऊल परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्तीचा वेव्हारु। कां न व्हावा? ॥४१॥ 'अमृतानुभव'।

[2] अद्वैती भक्ति आहे। हें अनुभवाचि जोगे। नव्हे बोला ऐसें॥
'ज्ञानेश्वरी', अ० १८, ओवी ११५१

[3] साडे पंधरेसीं मिसला वे। तँ साडे पंधरेंचि हो आवें।
तेवि मी जालिया संभवे। भक्ति माझी॥५६७॥
हागा सिंधूसि आनी होती। तरी गंगा कैसेनि मिलती।
म्हणोनि मी न होतां भक्ती। अन्वय आहे? ॥५६८॥ वही, अ० १५

संबंध मध्वाचार्य के द्वैतवाद से है। परंतु ये भी विट्ठल के ही अनुयायी हैं और साथ ही तिरूपति के वेंकटेश एवं उडुपी के कृष्ण के भी उपासक हैं। इनके अनुसार पांडुरंग का अर्थ (पांडु पांडव तथा रंग कृष्ण के आधार पर) पांडवों का समर्थक श्रीकृष्ण है। इनमें से सर्वप्राचीन हरिदास नरहरितीर्थ माने जाते हैं जिनकी मृत्यु सन् १३३१ ई० अर्थात् संवत् १३८८ में हुई थी। उनके उपरांत प्रसिद्ध हरिदासों में पुरंदरदास (सं०१५४१-१६२१), विजयदास (सं० १७४४-१८१२) तथा जगन्नाथदास (सं० १७८४-१८६६) के नाम लिए जाते हैं। हरिदासों की भी एक विशेषता उनकी शिव के प्रति इष्टदेव के ही समान भावना रखने में लक्षित होती है। डा० हेरास जैसे कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि इस प्रकार के मत का मूल-स्रोत उन भक्तों के उस प्राचीन द्राविड़ संस्कृति द्वारा प्रभावित होने में पाया जा सकता है जिसके प्रमाण मोहेन-जो-दड़ो तथा हड़पा आदि की खुदाइयों में मिले हैं।[1] हरिदासों के यहां सदाचारशास्त्र का बहुत बड़ा महत्त्व है। ये लोग बाह्य पूजन-विधानों से बहुत कुछ उदासीन रहा करते हैं और इनका अधिक झुकाव निवृत्तिमार्ग की ओर देखा जाता है। इनका कहना है कि आध्यात्मिक जीवन केवल इने-गिने व्यक्तियों के ही लिए अनुकूल नहीं; उसके अधिकारी जनसाधारण भी समझे जा सकते हैं।[2] जान पड़ता है कि इस कर्नाटकी वैष्णव-संप्रदाय पर उस प्रांत के प्रसिद्ध वीर शैव-संप्रदाय का भी प्रभाव कम नहीं है और इस बात को हम लोग दोनों के अनुयायियों के अनेक सामाजिक नियमों में भी देख सकते हैं।

कबीरादि की संत-परंपरा

ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर आदि को 'संत' कहने की प्रथा है। इसी प्रकार उत्तरी भारत के कबीरादि भी संत ही कहलाते हैं। कबीर साहब

---

[1] "दि मिस्टिक टीचिंग्स अव् दि हरिदासाज़ अव् कर्नाटक', भूमिका, पृ० ४१
[2] "त्रिवेणी', भा० ९, सं० १०, पृ० ४६

(मृ० सन् १४४८ ई०) के विषय में कहा जाता है कि वे स्वामी रामानंद के शिष्य थे जिनका 'रामावत संप्रदाय' प्रसिद्ध है। परंतु वे वस्तुतः विचार-स्वातंत्र्य के पोषक थे और किसी प्रकार के भी सांप्रदायिक बंधन में आना उनके लिए असंभव-सा था। वे एक साधारण जुलाहे के घर उत्पन्न हुए थे और उन्हें कोई नियमित शिक्षा भी नहीं मिली थी। किंतु सत्संग एवं स्वतंत्र चिंतन के द्वारा उन्होंने गंभीर ज्ञानार्जन कर लिया और बहु-श्रुत भी हो गए। कबीर साहब ने अपने उपदेश पदों एवं साखियों द्वारा दिए थे और कुछ रमैनियां भी लिखी थीं जिन सभी का प्रकाशन विविध संग्रहों में पाया जाता है। उन्होंने अपने सिद्धांतों का निरूपण किसी सुव्य-वस्थित ढंग से नहीं किया और न इसके लिए किसी ग्रंथ की रचना की। अतएव उनके मत का सारांश उनकी उक्त फुटकर रचनाओं के आधार पर ही दिया जा सकता है। वे परमात्मा को सत्-स्वरूप मानते हैं जिसे 'राम' अथवा 'साहब' जैसे नामों द्वारा अभिहित करते हैं और उसे 'अगम' एवं 'अकथ' होने पर भी, व्यक्तित्त्व प्रदान करते जान पड़ते हैं। वे उसे निर्गुण तथा सगुण दोनों से भी परे बतलाते हैं और उसके किसी अवतार का होना नहीं स्वीकार करते। उनका मूर्तिपूजा अथवा अर्चन-प्रणाली के साथ भी प्रबल विरोध है। वे कीर्तन को भी महत्त्व नहीं देते। वे एक सच्चे वैष्णव को आदर्श व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, किंतु उनका वैष्णव-धर्म हिंदूधर्म के अन्य अंगों वा इस्लामधर्म का भी विरोधी नहीं। उनके लिए सभी धर्म एक समान हैं और सभी का तब तक महत्त्व है जब तक वे सत्य के शाश्वत नियमों का अनुसरण करते है। वे आडंबर, कर्मकांड, हिंसा, असत्य, असंयत जीवन, भेषादि की तीव्र निंदा करते हैं। नामस्मरण उनके लिए भक्ति का सर्वोच्च साधन है उनके मत के अंतर्गत बौद्ध एवं जैनधर्म के अनेक व्यापक नियम तथा नाथपंथ की साधनाएं भी स्वीकार कर ली गई हैं।

कबीर साहब ने किसी संप्रदाय की स्थापना नहीं की, किंतु उन्हींके समान उपदेश देनेवाले अन्य संतों ने अपने-अपने ढंग से भिन्न-भिन्न पंथ प्रवर्तित किए। इस प्रकार संत-परंपरा की एक पृथक् विचारधारा ही

चल पड़ी। तदनुसार गुरु नानकदेव(मृ० सन् १५३९ ई०) का नानक-पंथ पजाब प्रांत में स्थापित हुआ। दादूदयाल (मृ० सन् १६०३) का दादूपंथ राजस्थान में चल पड़ा। मलूकदास (मृ० सन् १६८२) का मलूक-पंथ पूर्वी उत्तरप्रदेश में चल निकला। धरणीदास का धरनीश्वरी-संप्रदाय विहार प्रांत में बन गया। चरणदास (मृ० सन् १७८२ ई०) का चरणदासी संप्रदाय दिल्ली में चलने लगा और इन सबके अनुकरण में अन्य ऐसे अनेक वर्गों की भी रचना हुई जो सभी मिलकर एक भिन्न संत-संप्रदाय से ही जान पड़ने लगे। आगे आनेवाले इसके उपसंप्रदायों ने अपने को वैष्णव नहीं बतलाया और न वैष्णवधर्म के सभी सिद्धांतों को कभी स्वीकार किया। परंतु कबीर साहब द्वारा प्रचलित किए गए मत के साथ न्यूनाधिक साम्य होने के कारण वे सदा वैष्णवों की ही श्रेणी में गिने गए, उनका परमात्मा के लिए प्रधानतः 'राम' नाम को स्वीकार करना, अहिंसा एवं संयत जीवन को महत्त्व देना तथा एकांतिक भक्ति को ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन मानकर नामस्मरण में सदा प्रवृत्त रहा करना ऐसी बातें थीं जो अन्य वैष्णवों के भी अनुकूल थीं। संतों के अनेक पंथों वा संप्रदायों ने वैष्णवों के भेषादि को भी स्वीकार कर लिया था। उन्होंने वैष्णवों की मूर्तिपूजा एवं कीर्त्तन और अवतारवाद को पूर्वप्रचलित रूपों में कभी नहीं माना और सदा निर्गुण तत्व की ही दुहाई देते रह गए।

उड़ीसा के वैष्णव-कवि

उड़ीसा प्रांत के वैष्णवधर्म की सर्वप्रथम विशेषता उसके द्वारा जगन्नाथ को उपासना का प्रधान केंद्र मानने में है। पुरी के जगन्नाथ वा पुरुषोत्तम उस प्रांत के सर्वप्रसिद्ध उपास्यदेव हैं और वे वस्तुतः विष्णु भगवान के ही प्रतीक हैं। परंतु उनकी मूर्ति के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि उनकी पूजनपद्धति पर बौद्ध, शैव तथा तांत्रिक प्रणालियों का प्रभाव भी कम नहीं है। नानाघाट के शिलालेख (ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी) से प्रकट है कि उस समय तक वैष्णवधर्म उड़ीसा में पहुँच गया था। जगन्नाथ को लोग सर्वसम्मति से कृष्ण-वासुदेव का प्रतीक मानते हैं और बलराम तथा सुभद्रा

उनके भाई-बहन हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वैष्णवधर्म उड़ीसा प्रांत में भी बड़ी धूमधाम के साथ प्रचलित था और यह अनुमान कर लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि संकर्षण और वासुदेव वहां पर क्रमशः बलराम और जगन्नाथ होगए और श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा उनकी शक्ति के रूप में उन दोनों के साथ सम्मिलित करली गईं। सुभद्रा की एक विशेषता यह भी कही जाती है कि पुराणों के अंतर्गत कहीं-कहीं पर वे भगवान् की स्त्री एवं भगिनी दोनों के ही रूपों में स्वीकार की गई हैं।[1] जगन्नाथ की प्रतिष्ठा फिर गुप्त नरेशों के अनंतर भी प्रायः उसी प्रकार बनी रही और अन्य वंशों के राजाओं ने भी उन्हें महत्त्व दिया।

बौद्धधर्म का प्रचार, उड़ीसा प्रांत में, संभवतः अशोक के समय से ही होने लगा था। परंतु उसका विशेष प्रभाव उस समय तक नहीं पड़ा जब तक वहां पर नागांतक दर्शन के रूप में नागार्जुन के माध्यमिक शून्यवाद का प्रवेश नहीं हुआ। फिर तो ईसा की आठवीं शताब्दी में यह धर्म दक्षिणी उड़ीसा के बौद्ध-नरेशों की छत्रछाया में पूर्णरूप से प्रचलित हो गया। इस प्रकार इन बातों के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह भी कल्पना कर डाली है कि जगन्नाथ की दारुमूर्ति के भीतर गौतम बुद्ध का कुछ अस्थि अवशेष सुरक्षित है और धर्म-संप्रदाय की रचनाओं द्वारा इस धारणा को कुछ आधार भी मिल गया है। इस बौद्ध-संप्रदाय की पुस्तक 'धर्मपूजाविधान' में स्पष्ट कहा गया मिलता है "हे भगवन्, समुद्रतीर पर आप बुद्ध के रूप में कृपालु दीखते हैं।"[2] इसी प्रकार शैवधर्म का प्रवेश भी इस प्रांत में ईसा की सातवीं शताब्दी तक हो गया था और गंगावंशी नरेशों ने इसे उस समय महत्त्व दिया था। फिर स्वामी शंकराचार्य के यहां नवीं शताब्दी में आने पर उसे और भी बल प्राप्त हो गया और भुवनेश्वर में लिंगराज की स्थापना हुई।

---

[1]तस्य शक्ति स्वरूपेयं भगिनी स्त्री प्रवर्त्तिका। स्कंदपुराण, उत्कलखंड, १९।१७

[2]जलधिर तीरे स्थान बौद्ध रूपे भगवान हय्या तुमि कृपावलोकन। प्रभात मुखर्जी : 'मि० वैं० ओ०' के पृ० २० पर उद्धृत।

फिर भी ईसा की ११ वीं शताब्दी के समय तक वैष्णवधर्म इन दोनों धर्मों से अधिक प्रबल हो उठा और इन्हें अपने में मग्न करने लगा। उसी शताब्दी में जगन्नाथ का विशाल मंदिर भी निर्मित हुआ और फिर १२ वीं शताब्दी से रामानुजाचार्य आदि की वहां की यात्रा आरंभ हो गई। जगन्नाथ की मूर्ति उस समय से केवल वैष्णवों के ही आराध्यदेव का प्रतीक-रूप समझी जाने लगी।

ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी तक उड़ीसा प्रांत में विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों की पूजा आरंभ हो गई और उनके मंदिर भी बन गए। किंतु शैवधर्म एवं बौद्धधर्म के प्रभाव भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहे जिनसे वैष्णवधर्म क्रमशः कुछ रूपांतरित होता रहा। तदनुसार हम देखते हैं कि उसकाल के प्रसिद्ध उड़िया वैष्णव-कवियों पर भी वातावरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होने लगा और अपनी भिन्न-भिन्न रचनाओं के अंतर्गत वे कुछ ऐसे भाव भी भरने लगे जो वैष्णवधर्म के ठीक अनुकूल नहीं थे। पंद्रहवीं शताब्दी में ही उत्पन्न प्रसिद्ध 'पंचसखा' कहे जानेवाले ऐसे कवियों की पंक्तियों में हमें यह बात प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती है। ये 'पंचसखा' कवि क्रमशः बलरामदास (ज० १४७३ ई०), अनंत (ज० १४७५ ई०), यशोवंत एवं जगन्नाथ (ज० १४७७ ई०) तथा अच्युतानंद (ज० १४८९ ई०) थे जिन्हें, एक ही विचारधारा के पाँच भिन्न-भिन्न प्रवाह अथवा एक ही ज्वलंत दीपशिखा के भिन्न-भिन्नरूप होने के कारण, कभी-कभी 'पंचशाखा' अथवा 'पंचशिखा' भी कहा जाता है।[1] वे पाँचों ही योगी एवं तत्त्वद्रष्टा भी कहे जाते हैं। भक्तों की धारणा के अनुसार उन पाँचों ने क्रमशः चारों युगों में इसी प्रकार जन्म लिया था जिसका उल्लेख कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में भी मिलता है।

'पंचसखा' कवि वैष्णवधर्म के अनुयायी थे और उनकी कविताओं में भी उसके भक्तिभाव का ही उद्गार प्रकट किया गया है तथा वैष्णव-साहित्य

---

[1]चित्तरंजनदास : 'उड़िया साहित्य में पंचसखा', दे० 'जनवाणी' पत्रिका, अप्रैल १९५०

के मर्मज्ञों ने उन्हें महाप्रभु चैतन्य का अनुगामी तक माना है। परंतु इन कवियों का वैष्णवधर्म उसी रूप का नहीं प्रतीत होता जो नरसी, सूर, मीरां, तुकाराम वा तुलसी की रचनाओं में प्रतिबिंबित है। इसके मूलस्रोत में एक ऐसी प्रेरणा भी काम करती हुई लक्षित होती है जो वस्तुतः बौद्धों के महायान-संप्रदाय द्वारा अनुप्राणित है और जो इसी कारण उड़ीसा के पूर्वप्रचलित वैष्णवधर्म के स्वरूप का पूरा परिचय भी दिला देती है। इन 'पंचसखा' कवियों के पहले का रचा गया जो उड़िया वैष्णव-साहित्य मिलता है उसमें भी यह विशेषता दीख पड़ती है। किंतु इनमें आकर वह कहीं अधिक स्पष्ट एवं विवृत हो जाती है और उसके विषय में किसी को कोई संदेह नहीं रह जाता। बलरामदास ने अपनी 'जगमोहन रामायण' में तथा जगन्नाथदास ने 'भागवत' तक में यत्र-तत्र ऐसी बातें कह डाली हैं जो मूल-कथाओं के अनुरूप नहीं और अच्युतानंद ने तो 'शून्यसंहिता' की रचना द्वारा शून्यवाद का प्रतिपादन करने तक का प्रयत्न किया है। ये कवि, अपने समय में प्रचलित तथा वैष्णवधर्म के सिद्धांतों के साथ पूर्णतः मिश्रित हो गए और विचारों को विलग करने में स्वभावतः असमर्थ से जान पड़ते हैं। ये न तो शुष्क दार्शनिक हैं और न ऐसे चिंतनशील व्यक्ति ही हैं जिन्हें 'नीरक्षीर-विवेक' किए बिना अपना काम नहीं चलता।

इन कवियों की रचनाओं में प्रकट किए गए प्रमुख विचारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—"परमतत्त्व का वास्तविक रूप 'शून्य-पुरुष' का है जिसे 'अलेख पुरुष' भी कहा जाता है। उसका कोई रूपरेख नहीं, किंतु उसे व्यक्तित्त्व दे सकते हैं। उस निराकार 'महाविष्णु' ने ही संपूर्ण विश्व की रचना की है। और विराट् पुरुष के रूप में वह शून्य पुरुष का ज्योतिस्वरूप है। वही आदिब्रह्म भी है जो विंदुब्रह्म के रूप में भौतिक स्वरूप ग्रहण करता है और आदिशक्ति के द्वारा सृष्टि का निर्माण किया करता है। 'विंदुब्रह्म' से निःसृत विंदु दो रूपों में दीख पड़ता है जो 'रा' एवं 'म' अक्षरों में निहित हैं और जो क्रमशः राधा एवं कृष्ण के रूपों में परिणत होकर नित्यलीला में लीन रहा करते हैं तथा जिनकी सखियों के प्रतीक-स्वरूप बत्तीस अक्षर वर्त्तमान हैं। इन कवियों ने अपनी रचनाओं



चतुर्दशभुजी विष्णु

[मध्ययुगीन : राजस्थान म्यूज़ियम, अजमेर]



में 'जो पिंड में है सो ब्रह्मांड में है' के सिद्धांत को भी स्वीकार किया है और कुंडलिनी योग का वर्णन किया है। फिर भी, जैसा डा० प्रभात मुखर्जी ने कहा है, "उड़ीसा के मध्यकालीन वैष्णवधर्म ने नाथपंथ एवं बौद्धधर्म की विचारधाराओं को स्वेच्छापूर्वक अपना लिया था,[1] किंतु उनके साथ उसने एकरूपता वा अभिन्नता कभी ग्रहण नहीं की।" उस समय के वैष्णवधर्म ने बौद्धों के पिंड-ब्रह्मांड (अथवा सहजिया बौद्धों के देहवाद) को अपनाया, उनके सृष्टिरचना-सिद्धांत को स्वीकार किया, निर्वाण को महत्त्व दिया तथा जगन्नाथ को, भगवान् के बुद्धरूप वा बौद्धावतार की भाँति मानकर उनकी आराधना की। उसके अनुयायियों ने शून्यवाद को बहुत बड़ा महत्त्व दिया और योगसाधना का भी प्रचार किया।

---

[1]प्रभात मुखर्जी : 'सि० वै० ओ०', पृ० १०७

११. विदेशों में वैष्णवधर्म

पश्चिम एवं उत्तर-भारत में उदय लेकर वैष्णवधर्म दक्षिण-भारत की ओर गया और पूर्व तथा उत्तरपूर्व तक भी क्रमशः फैला। फिर तो देश के एक भाग के प्रचारक इसके दूसरे भागों में भी पहुँचने लगे और विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगा। इसके भिन्न-भिन्न संप्रदायों ने इसके प्रचारार्थ न केवल अपने प्रवर्त्तन-क्षेत्रों तक आंदोलन किया, अपितु उन्होंने अपने उपदेशकों द्वारा इसे अन्य स्थानों तक भी पहुँचाया। इस प्रकार यह धर्म प्रायः सारे भारत में व्याप्त हो चला। देश के जितने प्रमुख नगर तथा धार्मिक क्षेत्र थे वहां इन सभी ने अपने-अपने प्रयत्न किए, जिस कारण एक ही स्थान पर बहुधा एक से अधिक संप्रदायों के मठादि स्थापित हो गए और कभी-कभी उनमें आपस की होड़ तक चलने लगी। इसके सिवाय अपने-अपने संप्रदायों को अधिक आकर्षक एवं लोकप्रिय बनाने के लिए उन्हें कतिपय स्थानीय विशेषताओं को भी अपनाना पड़ा और इस धर्म के वाह्यरूप में अनेक अनावश्यक बातों का भी समावेश हो गया। जन-समाज के एक विशाल भाग में प्रवेश पाकर यह, क्रमशः एक प्रकार की संस्कृति का रूप ग्रहण करने लगा और इसकी अनेक बातें किसी सांप्रदायिक मनोवृत्ति से रहित व्यक्ति पर भी कुछ न कुछ प्रभाव डालने लगीं। फलतः इस धर्म का प्रचार धीरे-धीरे उन सुदूर देशों तक में भी हो गया जहां पर इसके किसी सुसंगठित प्रचारक-दल की कदाचित् कभी पहुँच भी न हुई होगी।

इस भक्तिपरक धर्म का भारत में विशेष प्रचार देखकर तथा कुछ साम्य के आधार पर कतिपय विद्वानों ने अनुमान किया है कि यह मूलतः ईसाईधर्म की देन है और इसका एक महत्त्वपूर्ण अंश उक्त मत के आदर्श पर ही निर्मित हुआ है। एक योरपीय ईसाई लेखक ने बतलाया है

कि इस धर्म के उपास्यदेव कृष्ण का नाम तक ईसा मसीह के नाम 'क्राइस्ट' का एक रूपांतर मात्र है। इसी प्रकार सर विलियम जोन्स नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने भी कहा था कि ईसाईधर्म के बहुत से गौण एवं कल्पित उपदेश किसी समय भारत में लाए गए थे जिन्हें श्रवण कर यहां के हिंदुओं ने उन्हें 'केशव'-संबंधी कृत्रिम कहानियों में सम्मिलित कर लिया था। जर्मन विद्वान् डा० वेबर की भी धारणा है कि कृष्ण को ईश्वरत्व प्रदान करने तथा उनके जन्मदिवस के उपलक्ष्य में उत्सव मनाने की प्रचलित परंपरा ईसाई-धर्म के अनुकरण में ही हुई है और ये सभी बातें बहुत पीछे कल्पित की गई हैं। महाभारत में आई हुई श्वेतद्वीप की चर्चा तथा नारायण द्वारा नारद के प्रति किए गए वहां के उपदेशों को उन्होंने इसके समर्थन में दिया है। श्वेत-द्वीप, उनके अनुसार, श्वेतांगों अर्थात् योरप निवासियों का ही देश कहा जा सकता है क्योंकि 'द्वीप' शब्द का प्रयोग, यहां पर, भारतीयों की दृष्टि से योरप देश के समुद्र पार स्थित होने के कारण ही किया गया है।

परंतु वैष्णवधर्म के इतिहास पर विचार कर लेने से उक्त धारणाएं केवल भ्रमात्मक और निराधार सिद्ध होंगी। डा० वेबर का यह कहना है कि कृष्ण पहले एक महान् पुरुष मात्र थे और उन्हें ईश्वर के रूप में ईसा के अनंतर स्वीकार किया गया इस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर केवल पर्दा डालता हुआ प्रतीत होता है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के बेसनगर शिलालेख में कृष्ण को स्पष्ट रूप में 'देवदेव' कहा गया है और उनके अनु-यायी हेलियोदोरस की उपाधि 'भागवत' की दी गई है।[1] हेलियोदोरस ग्रीक राजा ऐंतियाल्किस का राजदूत बनकर भारत में आया था और वैष्णव हो गया था। इस प्रकार न केवल कृष्ण को देवत्व प्राप्त होता है अपितु भागवतधर्म का ईसू ख्रीस्ट से कम से कम दो शताब्दी पहले प्रचारित रहना भी सिद्ध हो जाता है। घसुंडी का शिलालेख तथा पतंजलि का 'महाभाष्य' भी इस बात का ही समर्थन करते हैं और 'वासुदेव' के 'विष्णु' का स्थान ग्रहण कर चुकने की चर्चा का 'तैत्तिरीय आरण्यक' में आजाना इस बात को

---

[1]दे० इसके पहले का पृ० ३०

लगभग एक शताब्दी और भी खींच ले जाता है। किसी महापुरुष को क्रमशः देवत्व वा ईश्वरत्व का मिल जाना भी असंभव नहीं है। यह बात भी गौतमबुद्ध के जीवन से सिद्ध है। 'महाभारत' में आया हुआ श्वेतद्वीप संबंधी प्रसंग भी योरप की ओर संकेत नहीं करता। इस प्रकार का द्वीप, संभवतः वैसा ही पौराणिक है जैसा 'क्षीरसागर' कहा जा सकता है और उसमें दिए गए उपदेश भी स्वयं नारायण के हैं, सर्वसाधारण के नहीं। 'श्वेतद्वीप' के निवासियों का जो विवरण 'महाभारत' में उपलब्ध है उससे पता चलता है कि "उनके सिर छत्रों की भाँति हैं, उनके दातों की संख्या ६८ है जिनमें ६० बड़े और ८ छोटे-छोटे हैं और उनकी अनेक जीभें हैं जिनसे वे सूर्य को चाटते हुए से प्रतीत होते हैं।"[1] हम नहीं समझते कि कोई भी योरप निवासी अपना वा अपने पूर्वपुरुषों का ऐसा परिचय स्वीकार करेगा।

अतएव संभव है कि उक्त प्रकार की अनेक समानताओं का आधार वैष्णवधर्म द्वारा ही ईसाईधर्म का प्रभावित होना हो। भारत में ईसाईधर्म का सर्वप्रथम प्रवेश सेंट टामस के आने के साथ ईसा की प्रथम शताब्दी में होता है। यद्यपि उसे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विंसेंट स्मिथ 'कपोलकल्पित'-सा ही मानते हैं और इस प्रकार की घटना का तीसरी शताब्दी से पहले ले जाना नहीं चाहते।[2] गोपालकृष्ण की गाथा अथवा बालकृष्ण की पूजा के भारत में प्रवेश पाने के संबंध में यदि यह अनुमान किया जाय कि वह पश्चिमी भारत से कहीं से आकर बसनेवाली आभीर जाति की देन है और वह जाति संभवतः योरप की ओर से ही आई हो तथा अपने साथ इन बातों को ईसाइयों के यहां से लाकर उसने प्रचार किया हो तो वह भी निराधार ही है। कम से कम उस जाति का इसे ईसाइयों से प्राप्त करना इसलिए असिद्ध कहा जा सकता है कि आभीर जाति ईसा की प्रथम शताब्दी तक भारत में बस चुकी थी[3] और यदि तामिल-परंपरा में विश्वास किया जाय तो वह ईसा से

---

[1] महाभारत, शांतिपर्व, १२।३३५।११

[2] स्मिथ : 'अर्ली हिस्ट्री अव् इंडिया', पृ० २३३ और २३५

[3] भांडारकर : 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' (१९१२), पृ० १५

कई शताब्दियां पहले यहां आ चुकी थी। श्री वी० कनकसभाई का कहना है[1] कि आभीर लोग तामिल प्रांत में 'अयर' कहे जाते हैं जो पांड्यवंश के साथ यहां ईसा से कई शताब्दी पूर्व आ चुके थे और जिनके जातिनाम 'अयर' की व्युत्पत्ति तमिल शब्द 'आ' (गौ) से बतलाई जाती है।[2]

इस विषय के संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं ईसा के जीवनकाल में भी बहुत से धार्मिक व्यक्ति अपने ललाट तथा शरीर के अन्य अंगों पर एक प्रकार का विचित्र चिह्न धारण करते थे जो उनके यहां प्राचीन परंपरागत समझे जाते थे और जिनकी आकृति वैष्णवधर्मानुसार स्वीकृत तिलकादि के अनुकरण में बनी हुई जान पड़ती है। ऐसे ही चिह्नों में से एक के विषय में लिखते हुए श्री एम्० एस्० रामास्वामी अय्यर ने बतलाया है कि वह ललाट पर धारण किया जाता था और उसकी ओर 'बाइबिल' के अंतिम भाग 'रेवेलेशन' (२२-४) में किया गया कुछ संकेत भी जान पड़ता है।[3] उस अंश के भाष्यकारों का कथन है कि उक्त चिह्न का उल्लेख 'प्राचीन बाइबिल' के एक भाग ('एज़कील' ९-४-६) में भी हुआ है और साधारणतः उसे 'टान' की संज्ञा दी जाती है जो वस्तुतः हिब्रू वर्णमाला के अंतिम अक्षर को कहते हैं। उसकी आकृति अंग्रेज़ी के उलट दिए गए अक्षर u (यू) के समान होती है जिसके साथ फ़िनीशियन T (टी क्रास सूली) का सादृश्य देखकर पीछे के ईसाइयों ने सूली (क्रास) को और भी अधिक महत्त्व दिया था। श्री अय्यर का कहना है कि वैष्णवों के ललाटों पर धारण किया जानेवाला तिलक भी अंग्रेज़ी अक्षर u की आकृति का होता है, उसमें केवल एक और भी लकीर बीच में खींच दी जाती है और वह चिह्न भगवान् के नाम का सूचक होने के कारण तामिल भाषा में 'नामम्' कहा जाता है।

---

[1]कनकसभाई : 'तामील्स एटीन हंड्रेड इयर्स एगो', पृ० ५७

[2]दे० इसके पहले का पृ० ४३

[3]'और वे लोग उसका प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे तथा उसका नाम उन लोगों के ललाटों पर बना रहा रहेगा।'

श्री अय्यर ने वहा पर यह भी बतलाया है कि उक्त 'रेवेलेशन' का रचयिता जॉन उस धर्मोपदेशक जॉन से अभिन्न है जो ईसा के साथ 'अंतिम भोज' के अवसर पर विद्यमान था और जिसने, पालिक्रेटिस के अनुसार 'पेटालोन' धारण किया था। यह 'पेटालोन', वास्तव में, तामिल भाषा के 'पलालम्' शब्द का रूपांतर जान पड़ता है जिसका अर्थ 'ललाट पर धारण किया गया चिह्न' है। अनुमान होता है कि जिस 'नाम' के, भक्तों के ललाटों पर धारण करने की चर्चा 'रेवेलेशन' के उपर्युक्त अंश में की गई है, वह यही है। इसके सिवाय पुरातत्त्वविदों ने कुछ दिन हुए एक चित्र खोदकर निकाला है जो ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्मित किया गया कहा जाता है और जो रोम के पोपों के 'प्राचीनवस्तु-संग्रहालय' में सुरक्षित है। उस चित्र में 'अंतिम भोज' का ही दृश्य अंकित किया गया है जिसमें धर्मोपदेशक जॉन ईसा के निकट बैठे हुए हैं और उनके ललाट पर 'पेटालोन' चिह्न वर्तमान है। इस चिह्न में वैष्णवों के तिलकवाली बीच की लकीर नहीं है जिसे 'ऊर्ध्वपुंड' कहा जाता है। इसी प्रकार का एक अन्य चित्र भी मिला है और इन दोनों चित्रों की प्रकाशित प्रतिकृतियों के पतों का परिचय भी श्री अय्यर ने दिया है। उनका यह भी कहना है कि दिद्रुइ नामक एक फ्रेंच खोजी के कथनानुसार 'टान' वाले उपर्युक्त चिह्न को ईसाई लोग अपने द्वारों पर भी अंकित किया करते थे जो प्रथा यहां के वैष्णव-भक्तों के यहां भी प्रचलित है। अतएव, इन प्रमाणों के आधार पर श्री अय्यर इस परिणाम तक पहुँचे हैं कि "प्रश्न यहां पर केवल इतना ही नहीं है कि ईसाईधर्म ने वैष्णवधर्म को प्रभावित किया अथवा वैष्णवधर्म ने ही ईसाईधर्म पर अपना प्रभाव डाला, ईसाईधर्म स्वयं एक हिंदू संप्रदाय है और धर्मोपदेशक जॉन वैष्णव था।"[१] वे इसके पहले यह भी लिख चुके हैं कि फ़िलस्तीन को भारतीयों ने ही बसाया, ईसा तामिलदेशीय थे और उनका मत तामिलों का ही मत था।

---

[१] **एम्० एस्० रामास्वामी अय्यर: 'एपासल जांस वैष्णव नामम्', 'लीडर', इलाहाबाद, ३-२-४१**

श्री अय्यर का उपर्युक्त मत आज तक की स्वीकृत धारणाओं के बहुत-कुछ विरुद्ध जाता है और निःसंदेह सासहपूर्ण है। फिर भी इसके द्वारा इस अनुमान को पुष्टि अवश्य मिलती है कि यदि ईसाईधर्म एवं वैष्णव-धर्म के बीच एक से दूसरे के प्रभावित होने की बात पर विचार किया जाय तो अधिक युक्तिसंगत कथन यही हो सकता है कि सर्वप्रथम वैष्णवधर्म का ही प्रभाव ईसाईधर्म पर पड़ा होगा तथा ऐसी घटना के कुछ पहले से ही वैष्णवधर्म का प्रचार भी पश्चिमी देशों में होता रहा होगा। उधर के आधुनिक विद्वानों की यह धारणा कि वैष्णवधर्म, संभवतः ईसाईधर्म के ही आदर्श पर प्रचलित हुआ था, नितांत निर्मूल है। उनके कथन में केवल इतना ही तथ्य हो सकता है कि ईसाईधर्म के यहां प्रचलित हो चुकने पर उसकी एकाध बातों का किसी प्रकार वैष्णवधर्म पर प्रभाव पड़ जाना भी असंभव नहीं कहा जा सकता। ईसा के जन्म के पहले से वैष्णवधर्म का प्रचार विदेशों में होने लगा था और वह अधिकतर कृष्णभक्ति-विषयक था। रामभक्ति अथवा रामकथा का प्रचार अनुमानतः उस काल से होने लगा जब यहां पर स्वामी रामानंद के 'रामावत संप्रदाय' की स्थापना हो गई। पंद्रहवीं शताब्दी से आरंभ कर पाश्चात्य यात्रियों तथा मिशनरियों की भारत-संबंधी रचनाओं में कम से कम रामकथा के विषय में बहुत कुछ सामग्री मिलती है जो फ़्रेंच, डच, स्पेनिश, पोर्चुगीज़ तथा अंग्रेज़ी भाषाओं में लिखी गई है और जो कुछ महत्त्वपूर्ण भी है।[१]

इसके सिवाय हमें इस बात के भी प्रमाण कम नहीं मिलते कि एशिया माइनर में ईसा के पहले से ही भारतीय धर्मों एवं दर्शनों का प्रचार होने लगा था और सीरिया-निवासी लेखक ज़ेनब से पता चलता है कि अर्मेनिया देश में कृष्णोपासना कम से कम ईसा के पहले दूसरी और तीसरी शताब्दियों से ही प्रचलित थी तथा वान झील के किनारे मंदिरों में कृष्ण की बड़ी-बड़ी मूर्तियां भी स्थापित थीं।[२] इन मंदिरों को पीछे ईसाइयों ने ही

---

[१]बुल्के : 'रामकथा', पृ० २४६-२४९

[२]शिशिरकुमार मित्र : 'दि विज़न अव् इंडिया', पृ० १७४

तुड़वाया था। ज़ैनब के अनुसार, ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में, वहां पर लगभग पाँच सहस्र कृष्णानुयायी वर्त्तमान थे। जान पड़ता है कि ईसाईधर्म पहले वैष्णवधर्म द्वारा अधिक प्रभावित होने के ही कारण यहूदीधर्म की दृष्टि में 'विदेशीय' समझा जाने लगा था और उसका अधिक विरोध भी हुआ था। पीछे के ईसामतानुयायी लोगों में कुछ परिवर्त्तन हुआ और वे वैष्णवधर्म के विपक्षी तक बन बैठे, जैसा कि उपर्युक्त घटना के उल्लेख से जान पड़ता है।

सर विलियम जोन्स का, इसी प्रकार, कहना है कि दक्षिणी अमेरिका के प्राचीन पेरूविया-निवासी अपने को सूर्यवंशी कहा करते थे, और सूर्य की पूजा करते तथा अपने सर्वप्रसिद्ध 'रामसित्तोवा' नामक उत्सव को मनाया करते थे। पेरूविया के काव्यसाहित्य पर भी 'रामायण' एवं 'महाभारत' की छाप लगी हुई बतलाई जाती है।[1] ब्राज़ील की एक संस्था ने इधर ऐसे कुछ कार्य आरंभ किए हैं जिनका स्पष्ट उद्देश्य संसार के आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना है और उसने विशेषकर भारत के वैष्णवधर्म के विषय में अन्वेषण करना अभी कुछ दिनों से आरंभ किया है। इस संस्था की एक अंतरंग सभा का नाम 'तत्त्वचैतन्य' है जो चैतन्य-संप्रदाय की ओर अधिक ध्यान देती है और जिसके एक सदस्य ब्राज़ील के कौंसल-जेनरल (१९३० ई०) वेसेंटो एवलिनो भी थे। वे एक बड़े उत्साही वैष्णव थे और कहा करते थे कि "केवल भारत ही ऐसा देश है जिसने भगवान् को जाना है और भगवान् को जानने के लिए, इसी कारण, भारतवर्ष का जानना परमावश्यक है।" वे परमहंस रामकृष्ण के भी एक बहुत बड़े प्रशंसक थे।[2]

वैष्णवधर्म के प्रचार का प्रमाण योरप एवं अमेरिका से कहीं अधिक एशिया और इंदोनेसिया में पाया जाता है। इंदोचीन देश के 'अन्नम्' प्रांत में जिसे पहले 'चंपा' कहा जाता था भारतीय संस्कृति ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी में पहुँची थी। संस्कृत भाषा एवं साहित्य वहां पर लोकप्रिय हो

---

[1]मित्र : 'वि० इं०', पृ० १८२ [2]वही, पृ० २०८

चले थे और शासनकार्य तक पर उनका पूर्ण प्रभाव था। शैवधर्म एवं बौद्ध-धर्म का वहां विशेष प्रचार था। किंतु वैष्णवधर्म को वहां के कुछ शासकों ने यहां तक महत्त्व दिया था कि वे अपने को विष्णु का अवतार तक मानते थे।[1] चंपा राज्य के सातवीं शताब्दी के शिलालेखों से पता चलता है कि वहां पर 'वाल्मीकि-रामायण' का बहुत प्रचार रहा होगा। राजा प्रकाशधर्म (सन् ६५३-७८ ई०) के समय के एक वाल्मीकि-मंदिर में महाकवि वाल्मीकि की एक मूर्ति मिली है और उस मंदिर के एक शिलालेख से पता चलता है कि वे विष्णु के एक अवतार की भाँति वहां पर पूजे जाते थे।[2] कंबोदिया प्रांत की ख्मेर भाषा में वहां पर एक 'रामायण' की रचना भी हुई थी जिसका नाम 'रेआम-केर' वा 'रामकीर्त्ति' है और जिसकी कथा 'वाल्मीकि-रामायण' से मिलती जुलती है। इस 'रेआम केर' के आदर्शों पर ही निर्भर एक अन्य रामायण की रचना स्याम देश में हुई थी जिसका नाम 'राम-कियेन' है। स्याम देश के उत्तरपूर्वीय प्रांतों में बोली जानेवाली लाओ भाषा में भी इसी प्रकार एक रामायण 'रामजातक' के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी रचना बौद्ध-जातकों के आदर्शों पर की गई जान पड़ती है और जो वहां पर विशेष लोकप्रिय भी है। ब्रह्मदेश के एक राजा द्वारा स्याम देश पर सन् १७६७ ई० में चढ़ाई करने पर उसमें बहुत से लोग बंदी बनकर आए थे जिनमें से कुछ राम-नाटक भी करते थे। उनके द्वारा ब्रह्मदेश में राम की कथा का इतना प्रचार हुआ कि उसके आधार पर वहां के सबसे महत्त्वपूर्ण काव्य 'रामयागन' की रचना हो गई तथा उस देश की भाषा में 'यामप्ले' कहे जाने वाले राम-नाटकों का भी प्रचार हो गया। इन अभिनयों की विशेषता बहुमूल्य चेहरों में पाई जाती है।[3]

वैष्णवधर्म का प्रचार इंदोनेसिया में भी कम नहीं हुआ और जावा द्वीप में तो इसका प्रभाव विशेष-रूप में पड़ा हुआ जान पड़ता है, वहां के काव्य, नाटक, संगीत एवं नृत्यकला तक पर यहां के 'महाभारत' एवं

---

[1]मित्र : 'वि० इं०', पृ० १९५ [2]बुल्के : 'रामकथा', पृ० २४०
[3]वही, पृ० २४१-५

'रामायण' की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। वहां की मूर्तियां गरुड़ारूढ़ विष्णु भगवान् तथा उनके अवतारों के विविध प्रतीकों द्वारा भरी दिखाई देती हैं। इंदोनेसिया की प्रसिद्ध रामायण, 'रामायण काकाविन' है। मध्य-जावा के 'परम वनम्' नामक स्थान पर एक शिवमंदिर नवीं ईस्वी शताब्दी का वना हुआ वर्त्तमान है, जिसकी ऊँची-ऊँची दीवारों पर चारों ओर 'रामायण' की सारी घटनाओं का चित्रण पाषाण चित्रलिपि में किया गया मिलता है। इसके सिवाय 'रामायण काकाविन' की प्राचीन परंपरा से कुछ भिन्न रामकथा का एक रूप आधुनिक रामकथा-संबंधी नाटकों में पाया जाता है। इसी प्रकार मलयन रामकथा की सर्वप्रसिद्ध रचना 'हिकायत सेरी राम' है जो जावा की 'रामकेलिंग', 'सेरतकांड' आदि का भी आदर्श स्वरूप है।[1] परंतु इंदोनेशिया की इस रामकथा-परंपरा से भी अधिक प्राचीन इसका वह क्रमागत रूप है जो तिब्बत एवं खोतान में उपलब्ध है । तिब्बत के वोनपा-धर्म में तो भारतीय वैष्णव प्रतीक गरुड़ को भी स्थान दिया गया है जिसकी आकृति वोनपा-मूर्त्तियों तथा चित्रों में पाई जाती है।[2] रामकथा चीन के एक लेखक चिचिआ-ये की भी रचना में मिलती है जो सन् ४७२ ई० में लिखी गई थी।[3] जान पड़ता है कि रामकथा के प्रचार का आरंभ, सर्वप्रथम, भारत के उत्तर ओर ही हुआ था और इसके पीछे वह पूर्व की ओर प्रचलित हुई।[4]

संभव है कि रामकथा की ही भाँति रामोपासना का भी कुछ न कुछ प्रचार उत्तर से ही आरंभ हुआ हो और फिर पूर्व ओर गया हो जिस प्रकार कृष्णकथा के साथ-साथ कृष्णभक्ति का भी प्रभाव, इसके पहले, भारत के पश्चिम वाले देशों में फैला था। फलतः कृष्णकथा एवं कृष्णभक्ति पर जहां ईसाईधर्म की कुछ न कुछ छाया पड़ गई वहां रामकथा एवं रामोपासना

---

[1]बुल्के : 'रामकथा', पृ० २३२, २३३, व २३५

[2]वासुदेव उपाध्याय : 'तिब्बत का प्राचीन धर्म बोनपा (शिक्षा पत्रिका, लखनऊ, जनवरी १९५०)

[3]'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ५४, अंक ४, पृ० २८५

[4]बुल्के : 'रामकथा', पृ० २२८

पर भी पूर्व एवं उत्तर के देशों में, बौद्धधर्म का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका और यह परिणाम उन-उन देशों में प्रचलित धर्मों का ही था। इसके सिवाय इस संबंध में एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि पश्चिम के देशों में जहां कृष्णकथा एवं कृष्णभक्ति का स्वागत उनकी धार्मिक तथा दार्शनिक विशेषताओं के कारण हुआ वहां रामकथा एवं रामोपासना को उत्तर तथा पूर्व के देशों वाले लोगों ने उनकी सांस्कृतिक तथा कलात्मक बातों के कारण अधिक अपनाया।

१२. उपसंहार

वैष्णवधर्म बीजरूप में कतिपय साधारण वैदिक भावनाओं को ही लेकर चला था। फिर भक्ति-संबंधी एवं उपास्यदेव विषयक धारणाओं के क्रमिक विकास के साथ-साथ उसमें क्रमशः भिन्न-भिन्न बातों का समावेश होता गया और वह समय पाकर, एकांतिक, सात्त्वत, भागवत एवं पांचरात्र के रूपों में ढलता हुआ एक सुव्यवस्थित वैष्णव-रूप में परिणत हो गया। वैदिक काल में भक्ति केवल श्रद्धा के रूप में थी और उस श्रद्धा भाव के ही कारण उस समय के आर्य किसी देव के प्रति आकृष्ट होते थे। वे इसी कारण, उसकी स्तुति करते थे[१], वंदना करते थे[२] और कभी-कभी उसके ध्यान में लीन भी हुआ करते थे।[३] स्नेहमयी कोमल मनोवृत्तियों के भी उल्लेख वेदों में यत्र-तत्र मिलते हैं और पिता जिस प्रकार पुत्र के प्रति स्नेह प्रदर्शित करता है उसी प्रकार अपनी ओर दृष्टिपात करने की प्रार्थना करते हुए आर्यों के उद्गार[४] तथा, उसी प्रकार, किसी देव को सखा के रूप में संबोधित करने[५] अथवा उसे प्रीतिपात्र मित्र बनाने की इच्छा प्रकट करने के उदाहरण[६] वेदों के अनेक स्थलों पर पाए जाते हैं। 'ऋग्वेद' के एक ऋषि का तो यहां तक कहना है कि "हे इंद्र, जिस प्रकार चाहनेवाले पति को उसे चाहने

---

[१]स्तवाम त्वा स्वाध्यः, । ऋग्वेद, १।१६।९
[२]तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः । वही, १।२४।११
[३]भर्गो देवस्य धीमहि । गायत्री-मंत्र ।
[४]सनः पितेव सूनवे। ऋग्वेद, ३।५३।२
[५]सखे वज्रिन् सखिनाम् । वही, १।३०।११
[६]अस्य प्रियासः सख्ये स्याम । वही, ४।१।७

वाली पत्नी स्पर्श करती है उसी प्रकार मेरी वृत्तियां भी तुम्हें स्पर्श करें"[1] जिससे सिद्ध है कि उस काल में प्रेमलक्षणा भक्ति भी बीजरूप में विद्यमान थी। इसके सिवाय उपनिषत्काल में हम देखते हैं कि आत्मा को पुत्र से, वित्त से तथा अन्य वस्तुओं से भी प्रियतर कहा गया है[2] और कहीं-कहीं यहां तक बतलाया गया है कि उस (आत्मा) की प्राप्ति प्रवचन, मेधा वा विद्या-ज्ञान से नहीं होती; जिसे वह पसंद करता है उसे ही अपने को प्रत्यक्ष करता है[3] और उसकी प्राप्ति के आनंद का दृष्टांत देते हुए उसकी तुलना प्रियतमा द्वारा आलिंगित पुरुष के सुख के साथ की गई है[4]। इसी प्रकार 'उपासना' शब्द का प्रयोग भी उपनिषदों के अंतर्गत किसी न किसी रूप में होता आया है[5] और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'[6] में 'भक्ति' शब्द तक का व्यवहार किसी का आश्रय ग्रहण करना वा किसी को चाहना के अर्थ में किया गया मिलता है।

परंतु इस प्रकार की भावनाएं उन दिनों के साहित्य में इतस्ततःबिखरी हुई ही मिला करती थीं। उनमें कोई पारस्परिक संबंध न था और न वे किसी एक मूल धारणा की ओर संकेत करती हुई उसका अंग बनती प्रतीत होती थीं। वैष्णवधर्म के क्रमिक विकास का अवसर पाकर वे सभी मानो एकत्र हो गईं। उनके सम्मिश्रण से भक्ति का एक संश्लिष्ट रूप खड़ा हो गया। इस भक्तिभाव के निर्माण में सात्त्वतों के वासुदेव के प्रति प्रदर्शित एकांतिक अनुराग द्वारा बड़ी सहायता मिली। उन भक्तों का सर्वोच्च आदर्श

---

[1] पतींव पत्नी रूशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः। १।५७।११

[2] तदेत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो विज्ञात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्यादन्तरतरं यदयमात्मा। वृहदारण्यक, १।४।८

[3] नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुधा श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। कठोपनिषद्।

[4] वृहदारण्यक, ८४।३।२१

[5] मनो ब्रह्मेति उपासीत आदित्यो ब्रह्मेति, वही।

[6] यस्यदेवे पराभक्ति: यथा देवे तथा गुरौ। श्वेताश्वतर उपनिषद्।

अपने उपास्य को अपना सर्वस्व मानते हुए उसके प्रति अपने को सर्वतोभावेन अर्पित करने का था और ऐसी दशा में उन्हें इस प्रकार की उन सारी वृत्तियों को उन्मुक्त और प्रौढ़ बना देना पड़ा जो मानव-हृदय में स्वभावतः पाई जाती हैं। वैष्णवधर्म का समन्वयात्मक रूप निश्चित हो जाने पर जब उसके भीतर संप्रदायों का निर्माण होने लगा तब उक्त सारी भावनाएं फिर क्रमशः एक-एक कर निखरने लगीं और उनका रूप अनुदिन उज्वलतर एवं स्पष्टतर होता गया। उदाहरण के लिए भक्ति के ध्यानपरक अंग का स्फुट रूप उसके श्रीसंप्रदाय द्वारा प्रकट किया गया। प्रेमलक्षणा भक्ति की विविध वृत्तियों का विकास सनक-संप्रदाय, पुष्टिमार्ग एवं गौड़ीय-संप्रदाय द्वारा संपन्न किया गया। दास्यभाव मध्वसंप्रदाय तथा रामावत-संप्रदाय के साधनों की सहायता पाकर अपनी पूर्णता को पहुँच गया। प्रेमलक्षणा भक्ति के भीतर सख्य, वात्सल्य तथा उस श्रृंगारिक माधुर्यभाव का भी समावेश था जो सर्वसाधारण के विचारानुसार उपासना के अनुकूल न था।

भक्तिभाव के उपर्युक्त निर्माण एवं विकास के समानांतर ही भक्तों के उपास्यदेव का स्वरूप भी निर्मित होता गया। वेदों के प्रारंभिक बहुदेव-वाद के एकदेववाद का रूप ग्रहण करते ही उसके गुण-समूह एवं शक्ति में एक महान् परिवर्तन आगया। जो देवता पहले उपासकों के हृदयों में भय तथा आशंका का संचार किया करते थे उनकी भयानकता क्रमशः कम होती जान पड़ी और जैसे-जैसे उसे एक के भक्तों ने अपनी कोमल वृत्तियों का लक्ष्य बनाया वैसे-वैसे वह शीलवान् एवं आकर्षक होता गया। प्रकृति के गर्भ से निकल कर वा आकाश के सुदूर उच्चस्थान से उतर कर वह एक स्वामी के सिंहासन पर विराजमान हुआ। पिता-माता के रूप में आत्मीय बना, सखारूप में एक समान स्थिति तक पहुँचा और प्रियतम के रूप में उस दशा तक आगया जबकि उपास्य एवं उपासक के बीच का सारा भेदभाव मिट गया और दोनों एक ही वस्तु के अंग से प्रतीत होने लगे। भक्त अपने भगवान् को सर्वगुणसंपन्न मानकर उसके ऐश्वर्य पर रीझ जाता। कभी उसके व्यूहों की कल्पना करता, कभी उसे विविध रूपों में अवतारित करता, कभी उसके निवासस्थान का चित्र खींचता और कभी उसे सपत्नीक

और सपार्षद् रूप में अपने समक्ष स्थापित कर उसके गुणगान एवं कीर्तन में विभोर हो जाता। कभी-कभी तो इसने उसे निर्गुण एवं निराकार तक मानकर समझने और अपनाने की चेष्टा की।

वैष्णवधर्म इस प्रकार की चेष्टाओं में लगा हुआ धीरे-धीरे भारत के लगभग प्रत्येक प्रांत तक पहुँच गया। व्रजमंडल एवं गुजरात के अंचलों से आरंभ होकर वह सुदूर दक्षिण तक बढ़ गया और वहां से फिर पूर्व, उत्तर और पूर्वोत्तर की ओर व्याप्त हो गया। सांप्रदायिक संगठन की प्रवृत्ति जागृत हो जाने पर उसने देश के लगभग प्रत्येक भाग को अपने प्रचारकार्य का क्षेत्र बनाया। श्रीसंप्रदाय ने प्रधानतः तामिल प्रांत को केंद्र बनाया, वल्लभ के पुष्टिमार्ग ने गुजरात एवं काठियावाड़ को चुना, मध्व के कार्यक्षेत्र का स्थान कर्णाटक ने लिया, चैतन्यदेव ने बंगाल, व्रजमंडल एवं उत्कल में प्रचार किया, तथा महानुभाव, वारकरी, रामावत, पुरुषिया, उद्धवि जैसे संप्रदायों ने क्रमशः बरार, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, असम और सौराष्ट्र के प्रदेशों को अपनाया। फिर भी भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में अनेक तीर्थस्थानों के होने के कारण एक संप्रदाय के अनुयायियों का दूसरे संप्रदाय के क्षेत्रों में भी आना-जाना निरंतर होता रहा, जिस कारण एक की विचारधारा का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता गया। उनकी पारस्परिक होड़ का परिणाम कभी असह्य कटुता की सीमा तक नहीं पहुँच पाया। बौद्धों और विशेषकर जैनों एवं शैवों के विरुद्ध उनके किए गए प्रचारों का कुछ न कुछ पता अवश्य चलता है, किंतु उनके पारस्परिक वैमनस्य के उदाहरण कम मिलते हैं। उद्धवि-संप्रदाय के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने वल्लभ के अनुयायियों की ऐश्वर्यप्रियता के विरुद्ध आंदोलन खड़ा किया था। किंतु वास्तव में, वह पहले-पहल, सुधार की दृष्टि से हुआ था और अंत में, सुधारक स्वयं प्रचलित दोषों के शिकार बन गए। वैष्णवधर्म का प्रचार किसी न किसी प्रकार देश के बाहर विदेशों तक में हो चला और क्रमशः उसका महत्त्व भी बढ़ गया।

वैष्णवधर्म का बहुत-कुछ प्रचार उसकी साहित्य एवं कला-संबंधी कृतियों के कारण भी हुआ। इसके प्रारंभिक काल का साहित्य शुद्ध धार्मिक

था और वह संस्कृत भाषा में, विशेषकर पद्यों में, लिखा गया था। किंतु पीछे इसके लिए संस्कृत के अतिरिक्त तामिल, कन्नड, मराठी, गुजराती, हिंदी, बँगला, असमिया, उड़िया जैसी प्रांतीय भाषाओं का भी प्रयोग होने लगा। इधर के साहित्य का रूप केवल धार्मिक ही न रहकर दार्शनिक एवं साहित्यिक तक हो गया और पद्य के साथ गद्य भी लिखा जाने लगा। धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों में 'श्रीमद्भगवद्गीता' सदृश संवादमयी रचनाओं के अतिरिक्त भक्तिसूत्रों, भाष्यों, पुराणों एवं संहिताओं की रचना हुई, जहां साहित्यिक ग्रंथों में महाकाव्य, नाटक, चंपू एवं स्तुति और गीतादि रचे गए। इनमें किया गया विषय-प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियों द्वारा हुआ है और उन सभी प्रकार की रचनाओं की संख्या अच्छी कही जा सकती है। महाकाव्यों एवं पुराणों द्वारा वर्ण्य विषय को रोचक बनाते समय कथा-साहित्य का सहारा लिया गया है और उनमें अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण बातों का समावेश करके उन्हें मनोरंजक रूप देने की भी चेष्टा की गई है। नाटकों एवं चंपुओं में यही बातें घटनाक्रम की भिन्न-भिन्न विन्यास-पद्धतियों के कारण और भी प्रभाव डालती हैं। कथाभाग में स्थानभेद के कारण बहुधा बाह्य बातों का भी समावेश होता गया है और यह बात अधिकतर विदेशों की रचनाओं में पाई जाती हैं। विदेशों की भाषाओं में लिखी गई शुद्ध धार्मिक वा दार्शनिक रचनाओं का अभाव-सा है क्योंकि जितनी भी मिलती हैं वे अनुवाद हैं। वैष्णवधर्म के प्रचार में बाहरी क्षेत्रों के भीतर 'महाभारत', 'रामायण' एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' ने बहुत बड़ा काम किया है। अन्य ऐसी रचनाओं में प्रमुख स्थान 'प्रबंधम्', 'पदावली', 'अभंग' तथा 'रामचरितमानस' को दिया जा सकता है।

कलात्मक वस्तुओं की चर्चा करते समय हमारा ध्यान, सर्वप्रथम, उन मंदिरों की ओर जाता है जो स्थापत्यकला के अनमोल रत्न हैं और जो दक्षिणी भारत के तीर्थस्थानों में बड़ी अच्छी संख्या में पाए जाते हैं। इन मंदिरों की विशालता इनकी प्राचीन द्राविड़ रचना-शैली तथा इनके कालचक्र एवं विधर्मी आक्रामकों के प्रहारों से आजतक सुरक्षित रूप इनके प्रति यात्रियों की विशेष श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण

इनकी गणना यहां की बहुमूल्य निधियों में हुआ करती है। उत्तरी भारत के ऐसे मंदिरों में गुजरात, व्रजमंडल, उत्कल तथा काठियावाड़ के कुछ मंदिरों का नाम लिया जाता है जो अपनी-अपनी विशेषताएं रखते हैं, किंतु जिनमें उक्त दक्षिणी मंदिरों की भाँति भाव जागृत करने की शक्ति नहीं है। मूर्तिकला के विचार से भी दक्षिण-भारत की देवमूर्त्तियां उत्तरी भारत की मूर्त्तियों से किसी प्रकार घट कर नहीं हैं। विष्णु भगवान् एवं श्रीकृष्ण की वे मूर्त्तियां जो काले पत्थरों की बनी हैं विशष आकर्षक उतरी हैं। उत्तरी भारत के कई स्थानों (जैसे गोरखपुर तथा बलिया ज़िले) में कुछ इस प्रकार की मूर्तियां अभी मिली हैं जो निस्संदेह अपूर्व हैं। चित्रकला के ऐसे उदाहरणों में राजस्थान शैली के कुछ सुंदर चित्र उपलब्ध हैं जो राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति दर्शाते हैं। इस कला की अधिकांश वस्तुएं कृष्णावतार से ही संबंध रखती हैं, जहां मूर्तिकला के उदाहरणों में प्रायः सभी अवतार आ जाते हैं। मत्स्य, वाराह एवं नृसिंहादि की मूर्तियों के अवशेष भी गुजरात, काठियावाड़ एवं दक्षिण में ही अधिक हैं।

वैष्णवधर्म के महत्त्व का मूल्यांकन, इस प्रकार, प्रायः सभी बातों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। दर्शन के महान् पंडितों ने इसके लिए भाष्यों की रचना की है और मौलिक ग्रंथ लिखे हैं। उनकी सिद्धांत-निरूपण शैली, तर्क-पटुता तथा विवेचन की पांडित्यपूर्ण प्रणाली उनकी अपूर्व योग्यता को प्रकट करती हैं। कई भाषाओं के कवियों ने इसके काव्य-भांडार को अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा भरने के प्रयत्न किए हैं। इनमें संस्कृत के व्यास और वाल्मीकि से लेकर इधर के भवभूति, माघ एवं जयदेव के नाम लिए जा सकते हैं। प्रांतीय भाषाओं में भी ऐसे अनेक ग्रंथरत्न हैं, जिनके रचयिता महाकवि की श्रेणी में रक्खे जाने योग्य है और जिनके कारण वैष्णवकाव्य उच्चकोटि का माना जाता है। इसी प्रकार वैष्णवधर्म के मंदिर उसकी मूर्तियां तथा चित्र भी किसी अन्य धर्म की ऐसी कृतियों से कम महत्त्व के नहीं हैं और इन सबके कारण यह धर्म बहुत ऊँचा स्थान ग्रहण करने योग्य है। परंतु इन सबसे अधिक उल्लेखनीय बात इसकी उस सांस्कृतिक देन में पाई जाती है जो मानव-जीवन के स्तर को सचमुच

ऊँचा कर सकती है और जिसके आदर्श का समुचित पालन इस पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकता है। इस धर्म की देन का वास्तविक रूप इसके अनुयायियों की उस मनोवृत्ति में ढूँढ़ी जा सकती है जिसके अनुसार किसी भी प्राणी को शारीरिक वा मानसिक हानि का पहुँचाना सर्वथा त्याज्य है। सच्चा वैष्णव सदा अहिंसक हुआ करता है, जिसका परम कर्त्तव्य है कि वह मनसा, वाचा वा कर्मणा किसी दूसरे का अपकार न कर। इस असिहावृत्ति के ही कारण वह यावत्प्राणियों को अपना आत्मीय समझता है, उनमें सर्वत्र एकमात्र भगवान् का प्रतिबिंब देखता हुआ उनके प्रति प्रेमभाव रखता तथा उनके लिए अपना सब कुछ अर्पित कर देने की चेष्टा किया करता है। इस त्यागवृत्ति के कारण उसमें किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं आता और अपने किए कार्य तक को भगवदर्थ मान लेने के कारण उसे किसी प्रकार की चिंता नहीं सताती और वह सदा भगवच्चिंतन में ही मग्न रहा करता है। इस प्रकार के सच्चे वैष्णवों की संख्या में वृद्धि होने पर सारे समाज का कल्याण अवश्यंभावी है।

इस प्रकार की देन का आदर्श केवल वैष्णवधर्म की ही विशेषता नहीं और उक्त कथन पर आपत्ति भी की जा सकती है। जैनधर्म, बौद्धधर्म एवं ईसाईधर्म ने भी लगभग ठीक इसी प्रकार का आदर्श अपने लिए चुना है। जैनधर्म एवं बौद्धधर्म श्रमण-संस्कृति के प्रचारक हैं जिसके अनुसार त्याग, तपस्या और अहिंसा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वह संस्कृति संसार को कोई उच्चस्थान प्रदान करती हुई नहीं प्रतीत होती और उससे सदा छुटकारा पाना चाहती है। उसकी यही मनोवृत्ति उक्त धर्मों के अनुयायियों में दया और कारुण्य के भाव जागृत करती है और प्राणियों का उनकी दयनीय दशा से उद्धार करने के लिए उन्हें कटिबद्ध होने का उपदेश देती रहती है। जैन तीर्थंकर और बौद्ध बोधिसत्त्व उन्हें उनकी दशा से परिचित कराते हैं और उन्हें उसे सुधारने के लिए सचेत भी करते हैं। परंतु वैष्णव-धर्म वैदिक संस्कृति का समर्थक है और वह अपने अहिंसाभाव का प्रयोग करने के लिए इस संसार को अत्यंत आवश्यक क्षेत्र मानता है। उसका अनुयायी प्राणिवर्ग को केवल दया एवं करुणा का ही पात्र नहीं समझता,

अपितु उसे अपने प्रेम का भी आधार स्वीकार करता हुआ जान पड़ता है और उसे परामर्श देता है कि तुम शाश्वत आनंद प्राप्त करने के लिए भगवान् की शरण में चलो। वैष्णवधर्मानुयायी को इसमें पूर्ण विश्वास है कि बिना भगवत्कृपा के किसी का उद्धारकार्य पूर्ण नहीं हो सकता। इन तीनों धर्मों ने वेदों के प्रचलित कर्मकांड का विरोध किया था और इन तीनों ने ही अहिंसा की मनोवृत्ति को महत्त्व दिया था, किंतु ईश्वरवादी एवं प्रवृत्तिमार्गी वैष्णवधर्म ने जहां केवल सुधार करना चाहा वहां निरीश्वरवादी और निवृत्तिमार्गी अन्य दो धर्मों ने उसमें आमूल परिवर्त्तन लाने का आंदोलन खड़ा कर दिया। वास्तव में ये तीनों धर्म परस्पर प्रभावित हैं।[1] ईसाईधर्म वैष्णवधर्म की ही भाँति ईश्वरवादी था और वह प्रेमभाव एवं भ्रातृभाव को भी उसी भाँति महत्त्व देता था। किंतु भगवान् को कदाचित् कहीं दूर समझकर उसने उसके स्थानापन्न को ही अपना उद्धारक माना। जिस कारण एक माध्यम की भी सृष्टि हो गई। बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय तथा ईसाईधर्म के रोमन कैथालिक चर्च ने वैष्णवधर्म के भक्तिभाव को अपनाते समय अपने-अपने धर्मोपदेशकों को ईश्वरत्त्व प्रदान कर दिया जिससे उनमें अलौकिकता का आरोप हो गया।

ईसाईधर्म शामी संस्कृति के क्षेत्र में उदय लेकर चतुर्दिक फैला था और उसकी विशेषताओं से भी प्रभावित रहा। उस संस्कृति के रंग में उस से भी अधिक रँगा हुआ इस्लामधर्म था जो उसके कुछ काल अनंतर प्रचलित हुआ था। इस्लामधर्म ने ईश्वर का अस्तित्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया और शुद्ध धार्मिक से अधिक सामाजिक पक्ष पर ध्यान दिया। इस कारण भक्तिभाव तथा अहिंसा के उस रूप का वहां प्रायः अभाव-सा दीख पड़ा जो वैष्णवधर्म का वास्तविक परिचायक था। इस कमी को दूर करने का प्रयत्न पीछे उसके एक संप्रदाय ने किया जो सूफ़ी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इसने भी भगवान् को लगभग वैसा ही आत्मीय माना जैसा वैष्णवधर्म ने इसके बहुत पहले स्वीकार कर लिया था और उस उपास्य के प्रति इसने

---

[1]'दि एज अव् इंपीरियल यूनिटी', बंबई, पृ० ४५०

अपने प्रेमभाव का प्रदर्शन भी उससे कम नहीं किया। फिर भी इसके प्रेमभाव में हमें वैष्णवभक्ति की वह विविधता नहीं लक्षित होती जो क्रमशः शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य रसों के रूप में वहां पर पृथक्-पृथक् वर्तमान है। सूफ़ियों ने खुदा के प्रति इश्क़ का भाव दर्शाते समय उसे मानो एक ही रूप में देखना चाहा जो दांपत्यभाव के आधार पर निर्मित किया गया था और यहां पर भी उसने वैष्णवधर्म का अनुसरण ठीक उसी प्रकार से नहीं किया । वैष्णवधर्म ने उपास्यदेव को जहां, इस संबंध में, पति के रूप में, उसकी पत्नी बनकर स्वीकार किया वहां सूफ़ी संप्रदाय ने उसे अपनी प्रियतमा अथवा अधिक से अधिक उस सौंदर्यपूर्ण युवक के रूप में अपनाया जो किसी को स्वभावतः आकृष्ट कर सकता है।

भक्ति के विचार से वैष्णवधर्म शैवधर्म के भी समान कहा जा सकता है जो संभवतः इससे प्राचीनतर है किंतु जिसमें इस भाव का समावेश उसके उदय के कदाचित् कुछ पीछे ही हुआ होगा। शैवधर्म की भक्ति की विशेषता उसके ध्यानपरक होने में ही ज़ान पड़ती है और इसी कारण उसमें योग की ओर अधिक आकृष्ट होने के उदाहरण पाए जाते हैं। यह प्रवृत्ति उसके आदिकाल से ही आती हुई दीख पड़ती है और प्रेमलक्षणा भक्ति का उसमें प्रायः अभाव-सा है। इसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि शैवों ने भी अपने उपास्य को कभी भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाना नहीं चाहा। शिव उन्हें अपने उस सर्वशक्तिमान् स्वामी के रूप में दिखलाई देते हैं जिसके हाथ में वे सर्वथा आधीन हैं। अतएव, उनके यहां केवल शांत एवं दास्य भावों का ही समावेश संभव है। सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भावों के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। वैष्णवधर्म ने शैवधर्म की योगसाधना को अपने यहां स्थान दिया है, किंतु केवल गौण-रूप से ही ऐसा किया है।

परिशिष्ट

वैष्णवतंत्र

वैष्णवधर्म के तांत्रिक साहित्य का विषय स्थूलतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है जिनमें से एक का संबंध उसके सृष्टि-विषयक सिद्धांतों से और दूसरे का उसके साधन-मार्ग से है। 'नारदपांचरात्र'[1] के अनुसार 'रात्र' शब्द से अभिप्राय 'ज्ञान-वचन' से है जिसके अंतर्गत परमतत्त्व, मुक्ति भुक्ति, योग तथा विषय अर्थात् संसार नामक विषयों का निरूपण माना जाता है और लगभग इसी मत को 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में भी स्वीकार किया गया है।[2] वैष्णवतंत्र के तत्त्वज्ञान में ब्रह्म, जीव एवं जगत् तत्त्व के रहस्यों का उद्घाटन उतना प्रमुख स्थान नहीं पाता जितने की आवश्यकता इसमें सृष्टितत्त्व के निरूपण के लिए पड़ती है। इसी प्रकार इसके साधनमार्ग में भी योग से कहीं अधिक प्रधानता 'क्रिया' तथा 'चर्या' को दी जाती है। 'क्रिया' से यहां तात्पर्य देवालयों के निर्माण, मूर्तियों की स्थापना तथा उनके आकार-प्रकारादि के विस्तृत वर्णन से लिया जाता है और 'चर्या' का अर्थ विविध आह्निक क्रियाओं, प्रतिमा-पूजनों एवं यंत्र-मंत्रों के विधान तथा वर्णाश्रम धर्म के परिपालन और विशेष पर्वों, उत्सवों आदि के अवसरों के लिए निश्चित पूजन-पद्धति का लगाया जाता है। वास्तव में वैष्णवतंत्र का अधिकांश इस 'चर्या' के ही विवरणों से भरपूर मिलता है और उसके अनंतर क्रमशः 'क्रिया', 'ज्ञान' एवं 'योग' की चर्चा रहती है। वैष्णवधर्म के 'वैखानस

---

[1] रात्रंच ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम्। नारदपांचरात्र, १।४४।५
[2] अहिर्बुध्न्यसंहिता, ११।६४.

आगम' संबंधी साहित्य में तो उक्त क्रिया एवं चर्या के सामने तत्त्व-ज्ञान को प्रायः कुछ भी महत्त्व नहीं मिला है।

वैष्णवतंत्र के व्यापक सिद्धांतों का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है:—परब्रह्म वा पुरुष अनादि, अनंत, अद्वितीय, दुःख-रहित और सुखानुभवरूप है और सर्वत्र निवास करता हुआ भी नित्य, निरवद्य तथा निर्विकार है। वह उस महासागर के समान है जो निस्तरंग और प्रशांत रहा करता है तथा वह देश, काल एवं आकारादि से अनवच्छिन्न है। उस तत्त्व को ही षाड़गुण्योपेत होने के कारण, 'भगवान्', अशेष भूतवासी होने से 'वासुदेव' तथा सभी आत्माओं में श्रेष्ठ होने से 'परमात्मा' की संज्ञा दी जाती है। वह निर्गुण और सगुण दोनों ही कहा जा सकता है। 'निर्गुण' उसे इसलिए कहते हैं कि उसमें अप्राकृत गुणों का सर्वथा अभाव है और वह 'सगुण' इसलिए कहा जा सकता है कि वह उन छः गुणों से युक्त है जिन्हें क्रमशः ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, वल, वीर्य एवं तेज कहा जाता है। ज्ञान का गुण उसे नित्य, स्वप्रकाश और सर्वज्ञ सिद्ध करता है, ऐश्वर्य के कारण उसमें अव्यवहित कर्त्तृत्व है, शक्ति से वह अघटित घटना का विधायक है। वल के द्वारा उसमें श्रमाभाव तथा धारणा सामर्थ्य है, वीर्य के कारण वह निर्विकार है और तेज का गुण उसमें किसी अन्य की सहकारिता की अनपेक्षा का भाव ला देता है। ये छहो गुण वस्तुतः कल्पना-प्रसूत हैं और इनके अस्तित्व की धारणा जगत् के व्यापारों के आधार पर की जाती है।

उस अद्वितीय पुरुष वा विष्णु में, इसी प्रकार, एक ऐसे तत्त्व का अंतर्निहित रहना भी समझा जाता है जिसे लक्ष्मी कहते हैं, जिसका संवंध उसके साथ धर्म और धर्मी अथवा चाँदनी और चाँद की भाँति है और जिसकी दो शक्तियों के नाम 'क्रियाशक्ति' और 'भूतिशक्ति' हैं। वह भगवान् की इच्छाशक्ति स्वरूपिणी है जिसका आविर्भाव होते ही उपर्युक्त छः गुणों का उन्मेष हो आता है और उस तरंगहीन प्रशांत महासागर में प्रथम बुद्बुदों की भाँति उदय लेकर वे 'शुद्धसृष्टि' का कारण बन जाते हैं। उनका उस समय दो-दो की जोड़ियों में 'व्यूहन' अथवा पृथक्करण हो जाता है और क्रमशः ज्ञान एवं वल से संकर्षण, ऐश्वर्य एवं वीर्य से प्रद्युम्न तथा शक्ति

एवं तेज से अनिरुद्ध नामक तीन व्यूहों की रचना हो जाती है जो अपने सर्जनात्मक और शिक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं।[1] संकर्षण में ही, सर्वप्रथम शुद्धेतर सृष्टि का भी आभास बीजरूप में मिल जाता है, प्रद्युम्न तक प्रकृति एवं पुरुष की द्वैतता लक्षित होने लगती है और अनिरुद्ध तक आते-आते शरीर एवं आत्मा की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप ग्रहण कर लेती है। इन छः गुणों के एकत्र सामान्य रूप का व्यूह वासुदेव के नाम से अभिहित किया जाता है और ये चारो चतुर्व्यूह भी कहलाते हैं। शंकराचार्य ने अपने भाष्य[2] में बतलाया है कि पांचरात्रों के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव), उससे प्रद्युम्न (मन) तथा उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है, किंतु इस रूप में चतुर्व्यूह का मत सभी पांचरात्र ग्रंथों में दिखलाई नहीं पड़ता, कहीं-कहीं मिलता है।[3]

इन चारों व्यूहों से ही शुद्धसृष्टि के अंतर्गत व्यूहांतर, विभव, अर्चावतार एवं अंतर्यामी अवतारों का भी आविर्भाव होता है। ये सभी परम व्योम अथवा वैकुंठ में निवास करते हैं जो भौतिक आकाश से नितांत भिन्न है। वहां के भौतिक तत्त्वों तथा आत्माओं में शुद्धेतर सृष्टि के समान अधिक अंतर नहीं, फिर भी उसके सभी पदार्थों को भगवान् महाप्रलय के समय समेट-सा लेते हैं।

शुद्धेतर-सृष्टि शुद्धसृष्टि के ही आधार पर आश्रित है क्योंकि इसके कूटस्थ पुरुष और मायाशक्ति की उत्पत्ति उसी के प्रद्युम्न से होती है। कूटस्थ पुरुष आठ मनुओं अथवा चार मनुदंपतियों का समाहार है और मायाशक्ति के साथ क्रमशः—'नियति' और 'काल' का संबंध लगा हुआ है। ये तीनों वे 'संकोच' वा 'संकोचन-शक्तियां' हैं जो शैव-संप्रदाय के छः कंचुकों (माया, कला, विद्या, राग, नियति और काल) की भाँति व्यवधान का काम किया करती हैं और जिनके रहस्य का समझ लेना भक्तों के लिए नितांत आवश्यक है। मनुओं का अवतार हो जाने के अनंतर 'काल' के पश्चात् सतोगुण, रजोगुण

---

[1]अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५।१७।६० [2]शांकरभाष्य, २।२।४२-४५
[3]महाभारत, शांति पर्व, ३३९।४०-४२

एवं तमोगुण भी आ जाते हैं। इस प्रकार इन तीनों के संयोग से 'मूलप्रकृति' का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिसे सांख्य के अनुसार 'महत्' कहते हैं किंतु जो वास्तव में, 'प्राण'-स्वरूप है।[1] इस महत् से 'अहंकार' का तत्त्व आता है, फिर दसों इंद्रियां उत्पन्न होती हैं और मनुओं को पंचभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) की भी उपलब्धि हो जाती है। पांचरात्रों के इस विकास-क्रम में पुरुष एवं प्रकृति के अतिरिक्त 'काल' का भी हाथ रहता है। पंचतत्त्वों के आविर्भूत होने तक भी शुद्धेतर-सृष्टि का स्वरूप स्थूल नहीं होता। महापुरुष का अंत हो जाने पर जब नए दिन का आरंभ होने लगता है तो महत् से लेकर पंचभूतों तक के सभी तत्त्व पुरुष के प्रभाव से एकत्र होकर ब्रह्मांड के रूप में, भगवान् (पद्मनाभविभव) की नाभि से निकले हुए कमलनाल के ऊपर निर्मित हो जाते हैं। वही सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा है। उसकी स्थूल सृष्टि में जीव भगवान् की तिरोधान शक्ति द्वारा अपनी स्वाभाविक शक्तियों से रहित बनकर अवतीर्ण होता है, जिस कारण उसे निरंतर भवचक्र में भ्रमण करना पड़ता है और उसीसे छुटकारा पाने के लिए उसे साधन-मार्ग की आवश्यकता है।

वैष्णवतंत्रानुमोदित साधन-मार्गों में प्रधानता बहुधा 'क्रिया', 'चर्या' और कभी-कभी 'योग' की भी दी जाती है। परंतु वैष्णव साधकों के अनुसार इन तीनों के मूल में भक्ति का भाव काम करता है। विना भक्ति के वे तीनों ही निरर्थक हैं। 'सात्त्वततंत्र' के अनुसार यह भक्ति एक होने पर भी, ज्ञान, क्रिया एवं लीला के भेदानुसार, तीन प्रकार की होती है और क्रमशः निर्गुण भक्ति, कर्मजा भक्ति तथा प्रेममयी भक्ति कहलाती है।[2] परंतु 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के अनुसार भक्ति के वास्तविक रूप का नाम 'न्यास' है जिसे दूसरे शब्दों में शरणागति भी कहा जाता है। इसके छः प्रकार होते हैं[3]— (१) अनुकूल्यस्य संकल्पः (इस बात का संकल्प कि मैं सदा भगवान् के अनुकूल आचरण करूँगा), (२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् (उनके प्रतिकूल

---

[1]श्रेडर : 'इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र', पृ० ७३ [2]सात्त्वततंत्र, ४।१२।१६
[3]अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३७।२८; ५२।१५-२५

आचरण का परित्याग), (३) रक्षिष्यतीति विश्वासः (इस बात में पूर्ण विश्वास कि वे मेरी रक्षा सदैव किया करेंगे), (४) गोप्तृत्ववरणम् (उन्हें अपने रक्षक के रूप में स्वीकार भी कर लेना), (५) आत्मनिक्षेपः (आत्मसमर्पण) और (६) कार्पण्य (दैन्यभाव)। इस प्रकार की मनोवृत्ति वन जाने पर ही उपर्युक्त साधन-मार्गों में सफलता मिल सकती है और आवागमन से मुक्ति संभव है। उस समय साधक भगवान् के साथ उसी प्रकार तद्रूप हो जाता है जैसे नदियां समुद्र में जाकर उससे हिलमिल जाती हैं और जिस प्रकार अग्नि में डाले गए काठ के टुकड़े दग्ध होकर पृथक्-पृथक् दीख नहीं पड़ते। वैष्णवतंत्र के इस मोक्ष का रूप अद्वैत-सिद्धांत के समान जान पड़ता है। किंतु इसके मूल में उस मायावाद का अभाव है जो शांकराद्वैतवाद की विशेषता है।

साहित्य-निर्देश

[सहायक-साहित्य का निर्देश विस्तार से पाद-टिप्पणियों में हुआ है। यहां केवल कुछ प्रमुख आधुनिक ग्रंथों के नाम दिए गए हैं। नामों के अंत में, कोष्ठकों में, संकेताक्षर दिए गए हैं, जो पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं।]

गोस्वामी (बी० के०) : 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया' (कलकत्ता, १९२२) [भ० क०]

गौड़ (रामदास) : 'हिंदुत्व' (काशी, सं० १९९५)

फ़र्क़ुहर (जे० एन्०) : 'एन आउटलाइन अव् दि रेलिजस लिट्रेचर अव् इंडिया ।'

बुल्के (फ़ादर कामिल) : 'रामकथा' (इलाहाबाद, १९५०)

भांडारकर (आर० जी०) : 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' (पूना, १९२८) [वै० शै०]

मित्र (शिशिर कुमार) : 'दि विज़न अव् इंडिया' (कलकत्ता, १९४९) [वि० इं०]

मिश्र (शिवशंकर) : 'भारत का धार्मिक इतिहास' (कलकत्ता, सं० १९८०) [भा० धा० इ०]

मुखर्जी (प्रभात) : 'मिडीवल वैष्णविज़्म इन ओड़ीसा' (कलकत्ता, १९४०) [मि० वै० ओ०]

राजगोपालाचारियर (टी) : 'वैष्णवाइट रिफ़ार्मर्स अव् इंडिया' [वै० रि०]

रायचौधुरी (एच्० सी०) : 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट' (कलकत्ता, १९२०) [अ० हि० वै०]

शास्त्री (दुर्गाशंकर केवलराम) : 'वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास' (बंबई, १९३९) [वै० सं० इ०]

नामानुक्रमणी

